परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

सुधर्मोपदेशामृतसार

ग्रन्थकर्त्ता

परम पूज्य आचार्यश्री कुन्थुसागर जी महाराज

अनुवादक

पण्डितप्रवरश्री लालाराम जी शास्त्री

प्रकाशक

आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थमाला

सोलापुर (महाराष्ट्र)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

आद्यवक्तव्य.

किमत्र चित्रं यत्सतः परानुग्रहवत्पराः ।
न हि स्वदेहशैत्याय जायंते चन्दनद्रुमाः ॥ सुभाषित

महापुरुषोंका जीवन केवल दूसरोंके उपकारके लिए ही हुआ करता है, क्यों कि चंदन वृक्षोंका जन्म अपने देहके शैत्यके लिए नहीं, अपितु प्राणिमात्रके सुखके लिए वे पैदा होते हैं।

जिन महर्षियोंकी रात्रिंदिन यह भावना रहती है कि इस संसार परिभ्रमणमें पडकर दुःख उठानेवाले प्राणियोंकी भलाई किस प्रकार हो, उनका उद्धार किस प्रकार हो, मैं आत्मराज्य को कैसे प्राप्त करूं, लोकमें शांति सुखकी स्थापना किस प्रकार हो, प्राणियोंका अज्ञान किस प्रकार दूर हो, समस्त साधर्मी सज्जन प्रेम व वात्सल्यसे किस प्रकार रहें, वे महर्षि धन्य हैं। जिनका अनुदिनका अनुष्ठान केवल परानुग्रहके लिए हुआ करता है, जिनके जपमें, तपमें, ध्यानमें व उपदेश मे किसी भी प्रकार का स्वार्थ नहीं, दूसरोंके अपकार करनेपर भी अपनी कृतिसे उपकार ही करते रहते हैं, इतना ही नहीं, जिनके हृदयमे स्वप्नमें भी दूसरोंको अपकार करनेकी भावना नहीं होती है, वे साधु संत धन्य हैं।

परमपूज्य प्रातःस्मरणीय, विश्ववंद्य, सिद्धान्तचिरोमणि आचार्य श्री कुंथुसागरजी महाराज आजके युगमें धर्मके अलौकिक उद्योत करनेवाले परमशांत वीतरागी विद्वान् तपस्वी हैं। आचार्यसंघका विहार जहां जहां होरहा है वहां चिरस्मरणीय धर्मप्रभावना हो रही है। जैनधर्मके आदर्श व महत्वको जैनेतर साधारण बहुत उच्च

दृष्टिसे देख रहे हैं। कई वर्षोंसे आचार्यश्रीका विहार गुजरात प्रांतमें होरहा है। यहा अनेक राजधानीके शासक आपके पूज्य चरणोंके परमभक्त बन गए हैं। ऐतिहासिककालीन जैनधर्म व जैनसाधुवोंका स्मरण एकदम आचार्यश्रीके दर्शनसे होता है। अनेक संस्थानाधिपति आपके चरणोंके दर्शनके लिए लालायित रहते हैं। पिछले दिन बडोदा राज्यके न्यायमंदिरमें बडोदाके दिवान सा. सर कृष्णमाचारीकी उपस्थितिमें पूज्यश्रीका परमप्रभावक भाषण हुआ, जिसे सुननेके लिए कई हजार जैनेतर श्रोता उपस्थित थे। वह इतिहास में सुवर्णाक्षरोंमें लिखनेलायक हुआ है। आपकी विद्वत्ता, वक्तृत्व, गंभीरता आदि बातें अन्यदुर्लभ है। आपने वक्तृत्वकलामें जिस प्रकार कुशलता प्राप्त की है, उसी प्रकार काव्यनिर्माणकार्यमें भी अधिकार जमा लिया है। आपने अभीतक अपनी प्रगाढ विद्वत्तासे बोधामृतसार, ज्ञानामृतसार, चतुर्विंशतिजिनस्तुति, शांतिसागर चरित्र, निजात्मशुद्धिभावना, मोक्षमार्गप्रदीप, श्रावकप्रतिक्रमण, नरेशधर्मदर्पण, स्वरूपदर्शनसूर्य आदि ग्रंथोंकी रचना कर भव्योंके लिए अनंत उपकार किया है। यह सुधर्मोपदेशामृतसार भी आपकी परमनिर्मलविद्वत्तासे निर्मित अमृत है। आचार्य श्री सुधर्मसागर महाराज जो कि परम वीतरागी प्रभावक विद्वान् साधु होगए है, जो कि आचार्य महाराजके विद्यागुरु थे, उन्हींकी स्मृतिमें इस ग्रंथकी रचना हुई है। इस ग्रंथमें सचमुचमें जैसा नाम वैसा ही धर्मोपदेशरूपी अमृत कूटकूट कर भरा हुआ है। जिन्हें आत्मराज्यको पाकर अमर बनना होवे इस अमृतका अवश्य पान करें।

—०—

ग्रंथकर्ताका परिचय.

महर्षि कुंथुसागर महाराजने इस ग्रंथकी रचना की है। आप एक परम वीतरागी, प्रतिभाशाली विद्वान् मुनिराज हैं।

आपकी जन्मभूमि कर्नाटक प्रांत है जिसे पूर्वमें कितने ही महर्षियोंने अलंकृत कर जैनधर्मका मुख उज्वल किया था। इसलिए कर्णेषु अटतीति सार्थक नाम को पाकर सब के कानोंमे गूंज रहा है।

कर्णाटक प्रांतके ऐश्वर्यभूत बेळगाव जिल्हेमें ऐनापुर नामक सुंदर ग्राम है। वहांपर चतुर्थकुलमें ललामभूत अत्यंत शांत-स्वभाववाले सातप्पा नामक श्रावकोत्तम रहते हैं। आपकी धर्मपत्नी साक्षात् सरस्वतीके समान सद्गुणसंपन्न थीं। इसलिए सरस्वतीके नामसे ही प्रसिद्ध थीं। सातप्पा व सरस्वती दोनों अत्यंत प्रेम व उत्साहसे देवपूजा, गुरूपास्ति आदि सत्कार्यमें सदा मग्न रहते थे। धर्मकार्यको वे प्रधानकार्य समझते थे। उनके हृदयमे आंतरिक धार्मिकश्रद्धा थी। श्रीमती सौ. सरस्वतीने सं० २४२० में एक पुत्र-रत्नको जन्म दिया। इस पुत्रका जन्म शुक्लपक्षके द्वितीयाको हुआ। इसलिए शुक्लपक्षके चंद्रमाके समान दिनपर दिन अनेक कलावोंमे वृद्धिंगत होने लगा। माता-पितावोंने पुत्रका जीवन सुसंस्कृत हो इस सुविचारसे जन्म से ही आगमोक्त संस्कारोंसे संस्कृत किया। जातकर्मसंस्कार होनेके बाद शुभमुहूर्तमें नामकरणसंस्कार किया गया जिसमे इस पुत्रका नाम

रामचंद्र रखा गया। बादमें चौलकर्म, अक्षराभ्यास, पुस्तकग्रहण आदि संस्कारोंसे सस्कृतकर सद्विद्या का अध्ययन कराया। रामचंद्रके हृदय में बाल्यकाल से ही विनय, शील व सदाचार आदि भाव जागृत हुए थे। जिसे देखकर लोग आश्चर्ययुक्त होकर संतुष्ट होते थे। रामचंद्र को बाल्यावस्था में ही साधु संयमियोंके दर्शनमें उत्कट इच्छा रहती थी। कोई साधु ऐनापुरमें जाते तो यह बालक दौडकर उन की वंदनाके लिये पहुंचता था। बाल्यकालसे ही इसके हृदयमें धर्मकी अभिरुचि थी। सदा अपने सहधर्मियोंके साथमें तत्त्वचर्चा करनेमें ही समय इसका बीतता था। इस प्रकार सोलह वर्ष व्यतीत हुए। अब मातापितावोंने रामचद्रको विवाह करनेका विचार प्रकट किया। नैसर्गिक गुणसे प्रेरित होकर रामचंद्रने विवाहके लिये निषेध किया एवं प्रार्थना की कि पिताजी! इस लौकिकविवाहसे मुझे संतोष नहीं होगा। मैं अलौकिक विवाह अर्थात् मुक्तिलक्ष्मी के साथ विवाह करलेना चाहता हूं। मातापितावोंने आग्रह किया कि पुत्र! तुम्हें लौकिक विवाह भी करके हम लोगोंकी आखोंको तृप्त करना चाहिये। मातापितावोंकी अनोल्लंघनभयसे इच्छा न होते हुए भी रामचद्रने विवाहकी स्वीकृति दी। मातापितावोंने विवाह किया। रामचद्रको अनुभव होता था कि मै विवाह कर बडे बंधन में पड गया हूं।

विशेष विषय यह है कि, बाल्यकालसे संस्कारोंसे सुदृढ होनेके कारण यौवनावस्थामे भी रामचद्रको कोई व्यसन नहीं

था। व्यसन था तो केवल धर्मचर्चा, सत्संगति व शास्त्रस्वाध्याय का था। बाकी व्यसन तो उससे घबराकर दूर भागते थे। इस प्रकार पच्चीस वर्ष पर्यंत रामचंद्रने किसी तरह घरमें वास किया, परंतु बीच २ में मनमें यह भावना जागृत होती थी कि भगवन्! मैं इस गृहबंधनसे कब छूटूं, जिनदीक्षा लेनेका भाग्य कब मिलेगा? वह दिन कब मिलेगा जब कि सर्वसंगपरित्याग कर, मैं स्वपरकल्याण कर सकूं।

रामचंद्रके श्वसुर भी धनिक थे। उनके पास विपुल संपत्ति थी। परंतु उनको कोई पुत्र-सतान नहीं था। वे रामचद्रसे कई दफे कहते थे कि यह संपत्ति घर वगैरे तुम ही ले लो। मेरे यहाके सब कारोभार तुम ही चलावो। परतु रामचद्र उन्हें दुःख न हो इस विचारसे कुछ दिन रहा भी। परतु मन मनमे यह विचार किया करता था मै अपना भी घरदार छोडना चाहता हूं। इनकी संपत्ति को लेकर मैं क्या करू। रामचद की इस प्रकारकी वृत्तिसे श्वसुर को दुःख होता था। परन्तु रामचंद्र लाचार था। जब उसने सर्वथा गृहत्याग करने का निश्चय ही करलिया तो उनके श्वसुर को बहुत अधिक दुःख हुआ।

दैवशात् इस बीचमें मातापिताओंका स्वर्गवास हुआ। विकराल कालकी कृपासे एक भाई और बहनने विदाई ली। अब रामचंद्र का चित्त और भी उदास हुआ। उसका बंधन छूट गया। अब संसारकी अस्थिरताका उन्होंने स्वानुभवसे पक्का निश्चय किया और भी धर्ममार्गपर स्थिर हुआ।

इतने में भाग्योदयसे ऐनापुरमें प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद **आचार्य शांतिसागर** महाराजका पदार्पण हुआ, वीतरागी तपोधन मुनिको देखकर रामचद्रके चित्तमें संसारभोगसे विरक्ति उत्पन्न होगई। प्राप्त सत्समागमको खोना उचित नहीं समझकर उन्होंनें श्रीआचार्यचरणमें आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण किया। रामचंद्रजीके ब्रह्मचर्य दीक्षा लेनेके बाद उनकी धर्मपत्नीने धर्मध्यान पूर्वक अपना समय व्यतीत किया। सदा व्रत उपवास वैगेरे कर शुभ विचार से अपना जन्म सफल किया।

सन १९२५ फरवरी महीनेकी बात है। श्रवणबेलगोल महाक्षेत्रमें श्रीबाहुबलिस्वामीका महामस्तकाभिषेक था। इस महाभिषकके समाचार पाकर ब्रह्मचारिजीनें वहा जानेकी इच्छा की। श्रवणबेलगुल जानेके पहिले अपने पास जो कुछ भी संपत्ति थी उसे दानधर्म आदि कर उसका सदुपयोग किया। एव श्रवणबेलगुल में आचार्य शातिसागर महाराजसे क्षुल्लक दीक्षा ली। उस समय आपका शुभनाम क्षुल्लक पार्श्वकीर्ति रखा गया। ध्यान अध्ययनादि कार्योंमे अपने चित्तको लगाते हुए अपने चारित्र में आपने वृद्धि की व आचार्यचरणमें ही रहने लगे।

चार वर्ष बाद आचार्यपदका चातुर्मास कुंभोज (बाहुबलि पहाड) में हुआ। उस समय आचार्य महाराजने क्षुल्लकजीके चारित्रकी निर्मलताको देखकर उन्हे ऐलक जो कि श्रावकपदमें उत्तम स्थान है, उससे दीक्षित किया।

बाहुबलि पहाड पर एक खास बात यह हुई कि संघभक्त

शिरोमणि सेठ पूनमचंद घासीलालजी आचार्यवंदनाके लिए आये और महाराजके चरणोंमें प्रार्थना की कि मैं सम्मेदशिखरजी के लिए संघ निकालना चाहता हूं। आप अपने संघसहित पधारकर हमें सेवा करनेका अवसर दें। आचार्य महाराजने संघभक्त-शिरोमणिजी की विनंतीको प्रसादपूर्ण दृष्टिसे सम्मति दी। शुभ-मुहूर्तमें संघने तीर्थराजकी वंदनाके लिए प्रस्थान किया। ऐलक पार्श्वकीर्तिने भी संघके साथ श्रीतीर्थराजकी वंदनाके लिए विहार किया। सम्मेदशिखरपर संघके पहुंचने के बाद वहांपर विराट् उत्सव हुआ। महासभा व शास्त्रीपरिषत् के अधिवेशन हुए। यह उत्सव अभूतपूर्व था। स्थावरतीर्थोंके साथ, जंगमतीर्थोंका वहांपर एकत्र संगम हुआ था।

संघने अनेक स्थानोंमें धर्मवर्षा करते हुए कटनीके चातुर्मास को व्यतीत किया। बादमें दूसरे वर्ष संघका पदार्पण चातुर्मासके लिए ललितपुरमें हुआ। यों तो आचार्य महाराजके संघमें सदा ध्यान अध्ययनके सिवाय साधुवोंकी दूसरी कोई दिनचर्या ही नहीं है। परंतु ललितपुर चातुर्माससे नियमपूर्वक अध्ययन प्रारंभ हुआ। संघमें क्षु. ज्ञानसागरजी जो आचार्य सुधर्मसागरजीके नामसे प्रसिद्ध हुए थे, विद्वान् व आदर्श साधु थे। उनसे प्रत्येक साधु अध्ययन करते थे। इस ग्रंथके कर्ता श्री ऐलक पार्श्वकीर्तिने भी उनसे व्याकरण, सिद्धांत व न्यायको अध्ययन करनेके लिए प्रारंभ किया।

आपको तत्वपरिज्ञानमें पहिले से अभिरुचि, स्वाभाविक बुद्धितेज, सतत अध्ययनमें लगन, उसमें भी ऐसे विद्वान् संयमी

विद्यागुरुओंका समागम, फिर कहना ही क्या ? आप बहुत जल्दी निष्णात विद्वान् हुए। इस बीचमें सोनागिर सिद्धक्षेत्र में आपको श्री आचार्य महाराजने दिगंबर दीक्षा दी, उस समय आपको मुनि **कुंथुसागर** के नामसे अलंकृत किया। आपके चारित्र में वृद्धि होनेके बाद ज्ञानमें भी नैर्मल्य बढ गया। ललितपुर चातुर्माससे लेकर ईडरके चातुर्मासपर्यंत आप बराबर अध्ययन करते रहे। आज आप कितने ऊंचे दर्जेके विद्वान् बन गए हैं यह लिखना हास्यास्पद होगा। आपकी विद्वत्ता इसीसे स्पष्ट होती है कि अब आप संस्कृत में ग्रंथका भी निर्माण करने लग गए हैं। कितने ही वर्ष अध्ययन कर बडी २ उपाधियोंसे विभूषित विद्वानोंको भी हम आपसे तुलना नहीं कर सकते। क्यों कि आपमें केवल ज्ञान ही नहीं है अपितु चरित्र जो कि ज्ञानका फल है वह पूर्ण अधिकृत होकर विद्यमान है।

इसलिए आपमें स्वपरकल्याणकारी निर्मल ज्ञान होनेके कारण आप सर्वजन पूज्य हुए हैं। आपकी जिस प्रकार ग्रंथ–रचनाकलामें विशेष गति है, उसी प्रकार वक्तृत्वकलामें भी आपको पूर्ण अधिकार है। श्रोताओंके हृदयको आकर्षण करने का प्रकार, वस्तुस्थितिको निरूपण कर भव्योंको संसार से तिरस्कार-विचार उत्पन्न करनेका प्रकार आपको अच्छी तरह अवगत है। आपके गुण, संयम आदियोंको देखनेपर यह कहे विना नहीं रह सकते कि आचार्य शांतिसागर महाराजने आपका नाम **कुंथुसागर** बहुत सोच समझकर रखा है।

आपने अपनी क्षुल्लक व ऐलक अवस्थामें अपनी प्रतिभासे बहुत ही अधिक धर्मप्रभावना के कार्य किये है । संस्कारो के प्रचार के लिये सतत उद्योग किया है । करीब तीन चार लाख व्यक्तियोंको आपने यज्ञोपवीतसंस्कारसे संस्कृत किया है । एवं लाखों लोगोंके हृदयमें मद्य, मास, मधुकी हेयताको जंचाकर त्याग कराया है । हजारोंको मिथ्यात्वसे हटाकर सम्यग्मार्गमें प्रवृत्ति कराया हैं । मुनि अवस्थामे उत्तरप्रातके अनेक स्थानोंमें विहार कर धर्मकी जागृति की है । गुजरात प्रात जो कि चारित्र व संयमकी दृष्टिसे बहुत ही पीछे पडा था, उस प्रातमें छोटेसे छोटे गावमें विहार कर, लोगोंको धर्ममें स्थिर किया है । गुजरातके जैन व जैनेतरोंके मुखसे आपके लिए आज यह उद्गार निकलता है कि " साधु हों तो ऐसे ही हों "

सुदासना, टींबा, अलुवा, माणिकपुरा, मोहनपुरा, वडासन, पेथापुर, ओरान आदि अनेक छोटे वडे संस्थानोंके अधिपति आपके परमभक्त हैं ।

इसी प्रकार वडे २ राजा महाराजावोंपर भी आपके उपदेश का गहरा प्रभाव पडता है । बहुतसे राजाओंने आपके उपदेशसे प्रेरित होकर अपने राज्यमें अहिंसा दिन पालनेकी प्रतिज्ञा ली है। गुजरातमें वडे वडे राजा महाराजावोंके द्वारा आपका स्वागत हुआ और हो रहा है । आपके उपदेशामृत पान करनेके लिए वडे राजा महाराजा लालायित रहते है । आपके द्वारा अभूतपूर्व धर्मप्रभावना होरही है ।

गत तारंगा महोत्सवके समय कई हजारोंकी उपस्थिति में,

चतु संघके समक्ष पूज्यश्रीको आचार्यपदसे अलंकृत किया है। आपके कारणसे अनेक साधुसंयमी व लाखों भव्योंका कल्याण होरहा है। यह आपका संक्षिप्त परिचय है। पूर्णतः लिखनेपर स्वतंत्र पुस्तक ही बन सकती है।

अनुवादक.

इस ग्रंथके अनुवादक श्री. धर्मरत्न पं. लालारामजी शास्त्री है जो कि समाजमें सुपरिचित विद्वान् व सफल अनुवादक है। उन्होंने आजतक कितने ही ग्रंथोंका अनुवाद कर साहित्यकी सेवा की है। इसके पूर्व आचार्यश्रीकी जितनी रचनायें प्रकट हो चुकी हैं उनका अनुवाद गुरुभक्तिसे आपने ही किया है। इसके लिए श्री माननीय पंडितजीके हम आभारी हैं।

प्रकाशनमें सहायता.

इस ग्रंथके प्रकाशनमें जिन सज्जनोंसे हमें सहायता मिली है उनका परिचय अन्यत्र दिया है। उनके भी हम कृतज्ञ हैं।

आजके युगमें आचार्यश्रीके द्वारा जनता का अलौकिक उपकार होरहा है, धर्मका अपूर्व उद्योत होरहा है। जो सज्जन पूज्यवर्यके ग्रंथोंका स्वाध्याय कर अपना आत्मकल्याण करना चाहते हैं वे आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमालाके स्थायी सभासद बनें। उनको प्रत्येक ग्रंथ बिनामूल्य मिलेगे। पूज्यश्रीका विहार इस भारत-भूमिपर चिरकाल तक हो एवं भव्योंका कल्याण हो यही हमारी हार्दिक भावना है।

गुरुचरणभक्त—

सोलापुर
ता. २२-७-४०

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री,
(विद्यावाचस्पति)

सुधर्मोपदेशामृतसार [illegible]

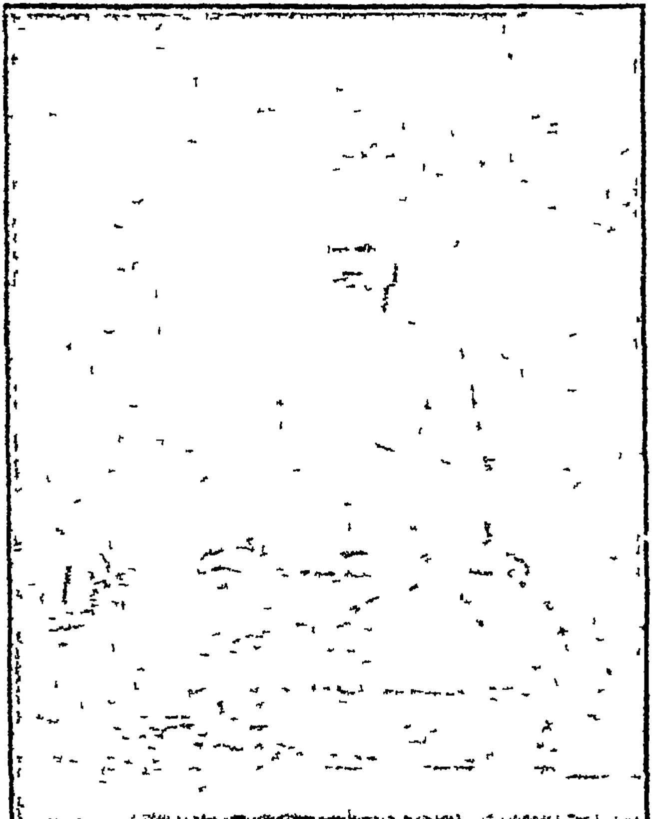

श्रीपरमपूज्य, विश्ववंद्य, परमप्रभावक,

आचार्य श्रीकुंथुसागरजी महाराज

(ग्रन्थकर्ता)

[कल्याण पॉवर प्रिंटिंग प्रेस, सोलापुर.]

श्री १०८ आचार्य कुंथुसागरपूजा

श्री कुंथुसागर सूरिं वक्तार सुखदायकम् ।
आह्वयामो वयं भक्त्या पूजार्थं पुण्यहेतवे ।

ॐ ह्रीं आचार्य श्रीकुंथुसागर स्वामिन् अत्रावतरावतर संवौषट्
इत्याह्वाननम् ।

श्रीकुंथुसागरं सूरिं लब्धबोधं महासुखम् ।
स्थापयामो वयं भक्त्या पवित्रहृदये वरं ।

ॐ ह्रीं आचार्य श्रीकुंथुसागर स्वामिन् अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ
इति प्रतिष्ठापनम् ।

श्री कुंथुसागर सूरिं मनोज्ञं साधुसत्तमम् ।
सन्निधीकरणं कुर्मः स्वात्मशुध्द्यै शुभाप्तये ।

ॐ ह्रीं आचार्य श्री कुंथुसागर स्वामिन् अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् इति सन्निधापनम ।

तपोवरिष्टं महिमान्वितं तं । परोपकारे च सदा निमग्नम् ।
गंगोद्गमस्थेन जलेन नित्यं । श्रीकुंथुसिंधुं परिपूजयामः ।
ॐ ह्रीं आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरस्वामिने जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

धर्मोपदेशे सफलप्रयासं । काव्यप्रबंधे वरलब्धकीर्तिम् ॥
सुगंधयुक्तेन सुचन्दनेन । श्रीकुंथुसिंधुं परिपूजयामः ।
ॐ ह्रीं आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरस्वामिने चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा ।

घोरोपसर्गेपि दृढासन त । परीषहे शुद्धचिदात्मलीनम् ।
शुद्धाक्षतानां वरपुंजपुंजैः । श्रीकुंथुसिंधु परिपूजयाम ।

ॐ ह्रीं आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरस्वामिने अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा

पापप्रणाशाय सदुद्यम तं । पुण्यार्जने दक्षमनिंद्यवृत्तम् ।
सत्पारिजातैर्वरपंकजैर्वा । श्रीकुंथुसिंधु परिपूजयाम· ।

ॐ ह्रीं आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरस्वामिने पुष्प निर्वपामीति स्वाहा।

सर्वेन्द्रियाणां विषये विरक्त। श्रुते च चेतो विषये निमग्नम ।
पूपैः सुगंधीकृतसर्वगेहैः । श्रीकुंथुसिंधु परिपूजयाम ।

ॐ ह्रीं आचार्यवर्य श्री कुंथुसागर स्वामिने नैवेद्य निर्वपामीति स्वाहा।

गुप्तित्रयाभ्यासपर त्रिकाले । चर्यादिकार्ये समितौ प्रवीणम् ।
आरार्तिरूपेण सुदीपकेन । श्रीकुंथुसिंधु परिपूजयाम· ।

ॐ ह्रीं आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरस्वामिने दीप निर्वपामीति स्वाहा।

महाव्रतैः शोभितदीप्तदेहं । सुसंयमेनापि प्रसिद्धकीर्तिम् ।
दशांगधूपै वसुकर्मदाहै । श्रीकुंथुसिंधु परिपूजयाम· ।

ॐ ह्रीं आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरस्वामिने धूप निर्वपामीति स्वाहा।

क्षमादिधर्मेषु सदा निमग्न । वा भावनाचिन्तनपूतचित्तम् ।
मिष्टैश्च कम्राम्रफलैर्विचित्रैः । श्रीकुंथुसिंधु परिपूजयामः ।

ॐ ह्रीं आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरस्वामिने फल निर्वपामीति स्वाहा।

ध्यानप्रवीणं सुकृतप्रताप । आहारवांच्छापरिहारदक्षम् ।
जलादिकैर्वा वसुधार्घ्यपुंजै । श्रीकुंथुसिंधुं परिपूजयामः ।

ॐ ह्रीं आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरस्वामिने अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

श्रीगिनापुरलब्धजातकविधि श्रीरामचन्द्रगृहे ।
बाल्याद्भोगशरीरमोहविरत' य शारदानन्दनः ।
नीतो येन पवित्रस्वर्णशिखरे निर्ग्रंथदीक्षाविधिः ।
सोयं पावनकुंथुसागरमुनिः जीयात्सदा भूतले ॥१॥

वंदे कुंथुमुनिं विद्वांस । बाल्याद्भोगशरीरविरक्तम् ।
त्यक्तगृह खलु त्यक्तसुदार । त्यक्तधन परित्यक्तकुटम्बम् ॥
स्वात्मोद्धारकभव्यसहाय । तीर्थोद्धारकमपि शुभवृत्तम् ।
सफलीकृततारंगाक्षेत्र । गुर्जरदेशोद्धारकमीशम् ॥ ३ ॥
शिक्षितविद्यावर्द्धितयशस । साक्षाद्देविसरस्वतिपुत्रम् ।
बोधामृतरचनाविख्यात । ज्ञानामृतकृतिसुप्रसुभव्यम् ॥४॥
उपदेशामृतसारकृतार्थ । तीर्थंकराखिलस्तुतिविख्यातम् ।
भव्याखिलरक्तजवरभानुं । वंदे शिरसा सदा महान्तम्॥५॥
योगीश्वर महावक्तार । पावागढकृतवर्षायोगम् ।
अर्हद्धर्मोद्योतननिरत । वंदे कुंथुसिंधुमुनिराजम् ॥६॥
वंदे कुंदकुंदपट्टतल्लीन । तत्पदरजोविभूषितदेहम् ।
तुर्थीकृतपावानगरस्थ । वंदे मोक्षप्रदं जनतेशम् ॥७॥

वंदे कुंथुमुनींद्रं सततं धर्मप्रभावनानिरतम् ।
गुर्जरनरेशबहुकृतहिंसाविरतं सदा वन्द्यम् ॥८॥

ॐ ह्रीं आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरस्वामिने महार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

जयतु जयतु सूरिः कुंथुसिंधुर्मुनीन्द्रः ।
चरतु चरतु धर्मं निर्मलं वृत्तवृन्दम् ।
सरतु सरतु मोक्षं शाश्वतं स्वात्मरूपं ।
कुरु कुरु मम सिद्धिं लौकिकीं पाररूपाम्

इत्याशीर्वादः ॥

तोतारामतनूजेन लालारामेण शास्त्रिणा ।
कुंथुसागरपूजेयं रचिता पुण्यहेतवे ।
उग्रोग्रभूरितपसा परिलुप्तपाप ।
देहे ममत्वरहितं स्वचिदात्मलीनम् ॥
अर्घ्येण दीपकधूपेन सुसुन्दरेण, ।
मान्यं बुधैर्मुनि यजे नमिसागरं तम् ॥

ॐ ह्रीं नमिसागरमुनये अर्घ्यं निर्वपामिति स्वाहा ।

संसारसागरसमुत्तरणाय लोके ।
श्राद्धोत्तमस्य पदवीं खलु येन लब्धा ।
त्यक्तं समस्तविषयं मदकाममोह, ।
श्रीआदिसागरमहं च यजे जलाद्यैः ॥

ॐ ह्रीं श्री आदिसागर क्षुल्लकाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

—o—

समर्पण.

श्रीमदाचार्यवर्य पूज्यपाद गुरुवर्य स्वर्गीय

श्रीसुधर्मसागरजी महाराज

के

पुनीत करकमलोंमें—

भगवन् !

आपकी ही कृपासे मैंने यह संस्कृत-साहित्य और अध्यात्म-बोध प्राप्त किया है तथा आपकी ही भक्तिके प्रसादसे संस्कृत ग्रंथ रचना में प्रवृत्त हुआ हूं और उसीका फल-स्वरूप आपकी शिक्षासे सुशोभित यह कल्याणकारी ग्रंथ प्रगट हुआ है।

इसलिये

मैं आपके ही पवित्र करकमलोंमें इस भेटको समर्पण करता हूं और भावना रखता हूं कि आपके पवित्र चरण कमलोंकी भक्ति मेरे हृदयमें सदा बनी रहे।

भवदीय अग्रशिष्य,

आचार्य श्रीकुन्थुसागर.

श्रीपरमपूज्य जगद्गुरु
आचार्य
श्रीकुन्थुसागर
महाराजके चरणोंमें
(१) लिंबोदरा ठाकुर सा० जगतसिंहजी (२) अलुवा ठाकुर सा० अर्जुनसिंहजी (३) माणिकपुरा ठाकुर सा० प्रवीणसिंहजी (४) पिंडरडा ठाकुर सा. रणजीतसिंहजी सुधर्मोपदेशामृतसारका पान कर रहे हैं।

श्री १०८ आचार्य सुधर्मसागरजी महाराज.

[कल्याण पॉवर प्रिंटिंग प्रेस, सोलापुर.]

श्रीसुधर्मसागरजी.

श्री—विद्याधिपतिर्महत्तमतया यो वीतरागो यति-
सु—ग्रन्थान भवाब्धितारणमहापोतान् विरच्याधुना ॥
ध—र्मस्योपचयं चकार बहुलं तुल्यं हि तीर्थेश्वरै—
र्म—न्ये कोऽपि तदाश्रयाद्भवमहादुःखं नहि प्राप्स्यति ॥१॥
सा—धुस्थानगतेन येन सुधिया सम्पाठिताः साधवो ।
ग—ण्या यस्य जितेन्द्रियस्य न गुणा मूलोत्तराः सत्तमाः ॥
र—त्नैर्य सहितोऽपि दिक्पटधरो विद्यागुरुर्नामको ।
जी—यात्सैष "सुधर्मसागर" सुधीराचार्यवर्यः सदा ॥२॥

सुधर्मोपदेशामृतसार—

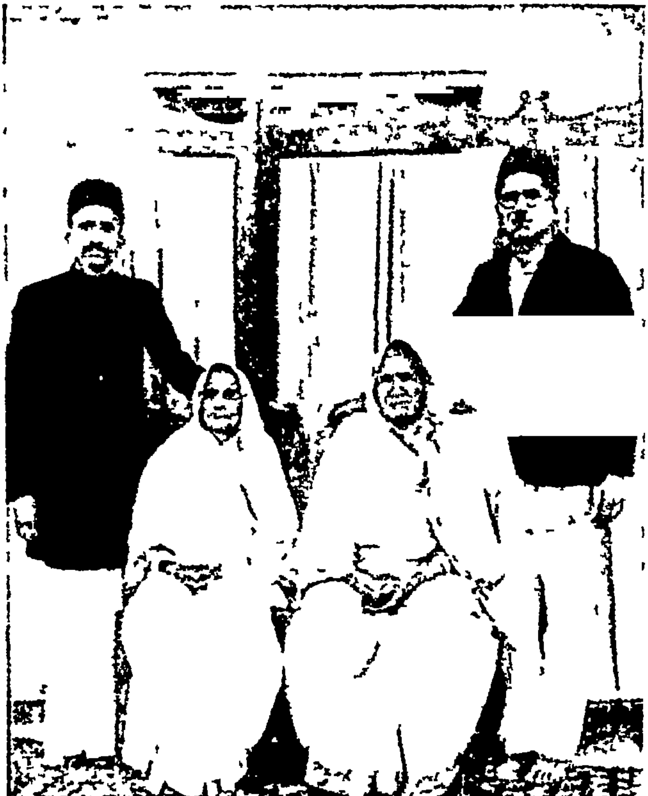

श्रीगुरुभक्त बा. महावीरप्रसादजी वकील हिसार

(पूज्य माताजी, बुवाजी व छोटे भाईके साथ)

संक्षिप्त-परिचय ।

धर्मपरायणा श्रीमती ज्वालादेवीजी व उनके सुपुत्र ला. महावीरप्रसादजी व शांतिप्रसाद जैन वकील हिसार (पंजाब)

यह ग्रंथ जो पाठकोंके हाथोंमे प्रस्तुत है, वह श्रीमती ज्वालादेवीजी धर्मपत्नी ला. ज्वालाप्रसादजी व पूज्य माता ला. महावीरप्रसादजी व शांतिप्रसादजी जैन वकील हिसार की ओरसे स्वाध्याय प्रेमियोंके हितार्थ विनामूल्य वितरण किया जा रहा है।

श्रीमतीजी का जन्म विक्रम संवत् १९४० में झज्झर [रोहतक] में हुआ था। आपके पिता ला. सोहनलालजी वहांपर अर्जीनवीसी का काम करते थे। उससमय जैनसमाजमें स्त्री-शिक्षाकी तरफ वहुत कम ध्यान दिया जाता था। इसी कारण श्रीमतीजी भी शिक्षा ग्रहण न कर सकीं। खेद है कि आपके पितृगृह में इस समय कोई जीवित नहीं है। मात्र आपकी एक वहिन है जो कि सोनीपत में व्याही हुई है।

आपका विवाह सोलह वर्षकी आयुमें ला. ज्वालाप्रसादजी जैन हिसारवालोंके साथ हुआ था। लालाजी असली रहनेवाले रोहतक के थे। वहां मोहल्ला पीथवाडा मे इनका कुटुम्ब रहता है जो कि "हाटवाले" कहलाते हैं। वहां उनके लगभग बीस घर होंगे। वे प्रायः सभी वडे धर्मप्रेमी और शुद्ध आचरणवाले साधारण स्थितिके सद्गृहस्थ हैं। इनका अपने खान्दान का

पीथवाडा मे एक विशाल दि० जैन मन्दिर भी है जो कि अपने ही व्यय से बनाया गया है । इस खान्दानमें शिक्षा की ओर विशेष रुचि है, जिसके फलस्वरूप कई ग्रेज्युएट और वकील हैं।

ला. ज्वालाप्रसादजी के पिता चार भाई थे । १ लाला कुन्दनलालजी, २ ला. अमनसिंहजी, ३ ला. केदारनाथजी, ४ ला. सरदारसिंहजी। जिनमे ला. कुन्दनलालजीके सुपुत्र ला. मानसिंहजी ला. अमनसिंहजी के सुपुत्र ला. मनफूलसिंहजी व ला. वीरमभानसिंहजी हैं। ला. केदारनाथजी सुपुत्र ला. ज्वाला-प्रसादजी और घासीरामजी। तथा ला. सरदारसिंहजी के सुपुत्र ला. स्वरूपसिंहजी, ला. जगतसिंहजी, और ला. गुलाबसिंहजी हैं। जिनमें ला. जगतसिंहजी ला० महावीरप्रसादजी वकील के पास ही रहकर कार्य करते हैं। ला. जगतसिंहजी सरल प्रकृति के उदार व्यक्ति हैं। आप समय २ पर व्रत उपवास और यम नियम भी करते रहते हैं। आप त्यागियों और विद्वानो का उचित सत्कार करना अपना मुख्य कर्तव्य समझते हैं। हिसारमें ब्रम्हचारी शीतलप्रसादजी के चातुर्मासके समय आपने बडा सहयोग प्रगट किया था।

उक्त चारों भाईयों में परस्पर बडा प्रेम था। किसी एक की मृत्युपर सबभाई उसकी और एक दूसरे की सन्तान को अपनी सन्तान समझते थे। ला. ज्वालाप्रसाद के पिता ला. केदार-नाथजी फतिहाबाद (हिसार) में अर्जीनवीसी का काम करते थे; और उनकी मृत्युपर ला. ज्वालाप्रसादजी फतिहाबाद से

आकर हिसार में रहने लग गये थे। और वे एक स्टेट में मुला-जिम होगये थे। वे अधिक धनवान न थे किन्तु साधारण स्थिति के शान्तपरिणामी, सन्तोषी मनुष्य थे। उनका गृहस्थ-जीवन सुख और शान्ति से परिपूर्ण था। सिर्फ ३२ वर्षकी अल्प आयु मे उनका स्वर्गवास होजाने के कारण श्रीमतीजी २७ वर्षकी आयुमे सौभाग्यसुख से वंचित होगई।

पतिदेव की मृत्युके समय आपके दो पुत्र थे। जिसमें उस समय महावीरप्रसादजी की आयु ११ वर्ष और शान्तिप्रसादजी जीकी आयु सिर्फ ६ माह की थी। किन्तु ला. ज्वालाप्रसादजी (ला. महावीरप्रसादजी के पिता) की मृत्यु के समय उनके चाचा ला. सर्दारसिंहजी जीवित थे। इस कारण उन्होंने ही श्रीमतीजी के दोनों पुत्रों की रक्षा व शिक्षाका भार अपने ऊपर लेलिया और उन्हीं की देखरेख में आपके दोनों पुत्रोंकी रक्षा व शिक्षा का समुचित प्रबन्ध होता रहा। किन्तु सन् १०.१८ मे ला. सर्दारसिंहजी का भी स्वर्गवास होगया।

अपने बाबा ला. सर्दारसिंहजी की मृत्यु के समय श्री. महावीरप्रसादजीने एफ. ए. पास कर लिया था और साथ ही ला. सम्पतलालजी जैन पर्दादार हांसी (जो उस समय ग्वालियर स्टेट के नहर के महकमा मे मजिस्ट्रेट थे) निवासी की सुपुत्री के साथ विवाह भी होगया था। श्री. शान्तिप्रसादजी उस समय चौथी कक्षा मे पढते थे। अपने बाबा की मृत्यु होजाने पर श्री. महावीरप्रसादजी उससमय अर्थात और

हताश न हुये किन्तु उन्होंने अपनी पूज्य माताजी [श्रीमती ज्वालादेवीजी] -की आज्ञानुसार अपने श्वसुर ला. सम्पतलालजी की सम्मति व सहायतासे अपनी शिक्षा-वृद्धि का क्रम आगे चालू रखनेका ही निश्चय किया। जिसके फलस्वरूप वे लाहोरमें ट्यूशन लेकर कॉलेजमे पढने लगे। इस प्रकार पढते हुए उन्होंने अपने पुरुषार्थ के बलसे चार वर्ष में वकालत की इम्तिहान पास कर लिया और सन् १९२२ में वे वकील होकर हिसार आगए।

हिसारमें वकालत करते हुए आपने असाधारण उन्नतिकी और कुछ ही दिनोंमें आप हिसार के अच्छे वकीलोंमें गिने जाने लगे। आप बडे धर्मप्रेमी और पुरुषार्थी मनुष्य हैं। मातृ-भक्ति आपमें कूटकूट कर भरी हुई है। आप सर्वदा अपनी माताजीकी आज्ञानुसार काम करते हैं। अधिकसे अधिक हानि होने पर भी माताजीकी आज्ञा का उल्लघन नहीं करते हैं। आप अपने छोटे भाई श्री शातिप्रसादजीके ऊपर पुत्रके समान स्नेहदृष्टि रखते हैं। उनको भी आपने पढाकर वकील बना लिया है। और अब दोनों भाई वकालत करते हैं। आपने अपनी माताजीकी आज्ञानुसार करीब १५, १६ हजार की लागत से एक सुदर और विशाल मकान भी रहनेके लिए बना लिया है। रोहतक निवासी ला. अनूपसिंहजीकी सुपुत्री के साथ श्री शातिप्रसादजी का भी विवाह होगया है और उनके अब १॥ साल की एक कन्या है। श्रीमतीजी की आज्ञानुसार उनके दोनों पुत्र तथा उनकी बहुये

कार्य संचालन करती हुई आपसमें बडे प्रेमसे रहती है । श्री. महावीरप्रसादजी के मात्र ३ कन्यायें हैं। जिनमे वडी राजदुलारी की शादी गुडगाव निवासी ला. लखपतिरायजीके सुपुत्र ला० महेंद्रकुमारके साथ हुई है, जो कि इस समय लाहोरमें वकाल्त का अध्ययन कर रहे हैं। छोटी कन्या अभी आठवीं कक्षामें पढ. रही है और "हिंदीरत्न" की तैयारी कर रही है। तीसरी कन्या अभी पांचवीं कक्षामे पढती है। इन सब लडकियोंको वडी धार्मिक रुचि है जिसके फलस्वरूप वे श्रीमंदिरजीमें पूजन आदि करती हैं।

श्रीमतीजी की एक विधवा ननन्द श्रीमती दिल्मरीदेवी [पतिदेवकी बहिन] हैं, जो कि आपके पास ही रहती हैं। श्रीमती जी १०-१२ वर्षसे चातुर्मासके दिनोंमे एक बार ही भोजन करती है। किन्तु पिछले डेढ सालसे तो हमेशा ही दिनमें एक दफा भोजन करती है। इसके अतिरिक्त वेला, तेला आदि नाना प्रकार के व्रत उपवास समय २ पर करती ही रहती है। आपका हर समय धर्मध्यान में चित्त रहता है। जैनबद्री मूडविद्री को छोडकर आपने अपनी ननन्दके साथ समस्त जैनतीर्थोंकी यात्रा की है। श्री सम्मेदशिखर की यात्रा तो आपने तीनवार की है। बल्कि आपके घरमें ही ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जिसने कि श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा न की हो। सन् १९३६ में आपकी आज्ञानुसार ही आपके पुत्र श्री. महावीरप्रसादजी वकीलने श्री. ब्र. शीतलप्रसादजी का हिसारमें चातुर्मास कर-वाया था। जिससे सभी भाइयों को बडा धर्मलाभ हुवा।

हिसार में ला. महावीरप्रसादजी वकील एक उत्साही और सफल कार्यकर्ता है। हिसार की जैन समाज का कोई भी कार्य आपकी सम्मति के विना नहीं होता। अजैनसमाज में भी आपका काफी सन्मान है। स्थानीय रामलीला कमेटी ने सर्व सम्मति से आपको सभापति चुना है, यह सौभाग्य आपको ही प्राप्त हुआ है कि लगातार दो वर्ष आप सभापति रहे, अन्यथा अबतक सभी एक वर्षतक ही सभापति रहते आये हैं। शहर के प्रत्येक कार्यमे आप काफी हिस्सा लेते हैं। जैनसमाज के कार्यों में तो आप विशेषतया भाग लेते हैं। स्थानीय श्रीनमिसागर धर्मार्थ जैन औषधालय तो आप के बल-भरोसे पर ही चल रहा है। आप के विचार बडे उन्नत और धार्मिक हैं। आप शामको प्रतिदिन १ यां १॥ घंटे मेरे द्वारा धर्म शास्त्रो (आपने छात्रों की तरह नियमित रूपेण बालबोधोंसे धर्माध्ययन प्रारंभ किया है। और अब इस समय रत्नकरण्ड श्रावकाचार, तत्वार्थसूत्र और बृहद्-द्रव्यसंग्रह आदि ग्रन्थोंका अध्ययन कर रहे हैं) का बडी श्रद्धा और विनय के साथ नियमित अध्ययन करते हैं। आप इंगलिश और कानून के विद्वान् हैं, तथा बडे अच्छे व्याख्याता हैं, आपका भाषण बडा मधुर और लच्छेदार होता है। हिसार की जैन समाज को आपसे बडी २ आशाएं हैं, और वे कभी अवश्य पूर्ण भी होंगी।

आपमें सबसे बडी बात तो यह है कि आप के हृदय मे साम्प्रदायिकता नहीं है जिसके फलस्वरूप आप प्रत्येक सम्प्रदाय

के कार्यो में विना किसी भेद भावके सहायता देते और भाग लेते हैं। आप प्रतिवर्ष काफी दान भी देते रहते हैं। जैन अजैन सभी प्रकार के चन्दों में शक्तिपूर्वक सहायता देते हैं। आपने गतवर्ष श्री. ब्र. शीतलप्रसादजी द्वारा लिखित आत्मोन्नति या खुदकी तरकी ' और मेरे द्वारा लिखित ' दीक्षा महोत्सव ' नामके ट्रेक्ट छपाकर विना मूल्य वितरण किए थे। अभी कुछ दिन पहले ब्र० शीतलप्रसादजी द्वारा सम्पादित ३०० सफेका " जैन-बौद्ध तत्त्वज्ञान " दूसरा भाग ' जैनमित्र ' के ग्राहकोंको उपहार में दिया है। पिछले चातुर्मासमें श्रीआचार्य कुन्थुसागरजी महाराजके दर्शनोंके लिए आप सपरिवार पावागढ (बडौदा) पहुचे थे। उसी समय इस प्रस्तुत ग्रंथके प्रकाशनका श्री आचार्य महाराजसे वचन दे आये थे।

आपने करीब ३००-४०० रु. की लागतसे अपने बाबा ला० सरदारसिंहजी की पुण्य-स्मृति मे ," अपाहिज आश्रम " सिरसा [हिसार] में एक सुन्दर कमरा भी बनवाया है। आपके ही उद्योगसे हिसारमें ब्र० जी के चातुर्मासके अवसर पर सिरसा [हिसार] में श्री दि. जैन मंदिर बनाने के विषय मे विचार हुआ था। उस समय आपकी ही प्रेरणासे ला. केदारनाथजी बजाज हिसारने १०००) और ला. फूलचंदजी वकील हिसारने ५००) रु. प्रदान किए थे। श्री मंदिरजीके लिए मौकेकी जमीन मिलनेपर शीघ्र ही मंदिरनिर्माण का कार्य प्रारंभ किया जायगा।

श्रीनमिसागरजी महाराज जिस समय हिसार पधारे और दो

माह तक हिसारमें रहे, उस समय आपकी माता [श्री. ज्वाला-देवीजी] तथा बुआजीने मुनि महाराजको आहारदान देने के अभिप्राय से आजन्म शूद्रजलका त्याग किया था । और जब मुनि महाराजने हिसार से प्रस्थान किया तो चूरू [मारवाड] तक उनके साथ जाकर मार्गमें आहार-सेवा आदिसे बडा वैयावृत्य किया । साथमे श्री. शांतिप्रसादजी, ला. जगतसिंहजी तथा इन पंक्तियोंका लेखक [अपनी स्व० धर्मपत्नी श्री. सोनादेवीजीके साथ] भी थे । मार्गमे विहारके समय बडा आनन्द रहता था ।

इसमें संदेह नहीं कि बा. महावीरप्रसादजी वकील आजकल के पाश्चात्य [इंग्रेजी] शिक्षा-प्राप्त युवकोंमें अपवादस्वरूप हैं । वस्तुतः आप अपनी योग्य माताके सुयोग्य पुत्र हैं । आपकी माताजी [श्री ज्वालादेवीजी बडी नेक और समजदार महिला है । श्रीमतीजी प्रारंभसे ही अपने दोनों पुत्रोंको धार्मिक शिक्षाकी ओर प्रेरित करती रही हैं, इसीका यह फल है । ऐसी माताओंको धन्य है कि जो इस प्रकार अपने पुत्रोंको धार्मिक बना देती हैं । अंतमे हमारी भावना है कि श्रीमतीजी इसी प्रकार शुभ कार्योंमें प्रवृत्ति रखती रहेंगी । और साथ ही अपने पुत्रोंको भी धार्मिक कार्योंकी तरफ प्रेरणा करती हुई अपने जीवनके शेष समयको व्यतीत करेंगी ।

निवेदक—

प्रेम कुटीर	अटेर (ग्वालियर) निवासी
हिसार (पंजाब)	बटेश्वरदयाल बकेवरिया शास्त्री
२५ जून १९४०	आयुर्वेदाचार्य (सिद्धान्तभूषण, विद्यालंकार)

विषयानुक्रमणिका.

अध्याय पहिला.

विषय.	श्लोक संख्या.
मंगलाचरण	१
प्रतिज्ञा	२
बिना भावशुद्धिके वैराग्यका अभाव	४
भावशुद्धि कैसे हो	५
लेश्याएं कितनी और कैसी हैं, कृष्ण लेश्याका स्वरूप	६
नीललेश्याका स्वरूप	७
कापोतलेश्याका स्वरूप	८
पीतलेश्याका स्वरूप	९
पद्मलेश्याका स्वरूप	१०
शुक्ललेश्याका स्वरूप	११
शुभलेश्याएं और अशुभ लेश्याएं	१२
वैराग्यकी वृद्धिका उपाय	१३-१४
शरीरका स्वरूप	१५-१६
आशा किसकी करना और किसकी नहीं ?	१७-१८
रागी विरागी कहां प्रसन्न रहते हैं ?	१९-२०

कुटुंबी परलोकमे साथ नहीं जाते	२१-२२
संसारी जीवोका जीवन	२३-२६
जीवका कर्तव्य	२७-२८
त्याग और ग्रहण	२९-३०
इस जीवका कोई शरण नहीं है	३१-३२
अकेला जीव कहा कहा परिभ्रमण करता है ?	३३-३५
पदार्थोंकी नित्यानित्यता	३६-३७
इंद्रियोका स्वरूप	३८-३९
संसार परिभ्रमणका काल	४०-४१
जीव दु खोंके आधीन क्यों है ?	४२-४३
ममत्वत्यागका उपदेश	४४-४५
ममत्व कहा करना चाहिए	४६
अभिमानका निषेध	४७-४८
भोगोपभोगोंका स्वरूप	४९
ससारका स्वरूप	५०-५१
परिग्रहका स्वरूप	५२-५३
करने वा न करनेयोग्य वार्तालाप	५४-५५
स्वात्मसिद्धिके लिए कर्तव्य	५६-५७
आत्माका स्वरूप दिखलानेका उपाय	५८-५९
मोक्षका मार्ग	६०-६१
साधु और गृहस्थ कैसा वंदनीय प्रशंसनीय है ?	६२-६३
मोह और भव्यजीवका कर्तव्य	६४-६५

प्रातःकाल करने चिंतवन करनेयोग्य विषय ६६-६७
श्रेष्ठ गुरुसे ही ज्ञान प्राप्त होता है ६८-६९
विरक्त पुरुषोंके भाव ७०-७१
वैराग्यसे क्या क्या प्राप्त होता है ? ७२-७३
वात्सल्यभावकी महिमा ७४-७५
स्वदयाका माहात्म्य ७६-७७
वैराग्यकी स्थिरताका कारण ७८-७९
मनुष्योंके श्रेष्ठ विचार ८१-८२
ज्ञानवैराग्यके विना समस्त क्रियाएं निष्फल है ८३-८४
मुनियोंके ही वैराग्यकी वृद्धि होती है ८५-८६
विरक्त पुरुषके रहनेका स्थान ८७-८८
मुनि दूसरोंसे क्या ग्रहण करते है ? ८९-९०
समस्त परिग्रहोंका त्याग करने पर भी आहारके त्याग न करनेका कारण ९१-९२
विरक्तबुद्धि किनकी होती है ? ९३-९४
ज्ञान वैराग्यसे रहित मुनिकी व्यर्थता ९५-९६
गाढ वैराग्यके लिए कर्तव्य ९७-९८
वैराग्य किसके होता है ? ९९-१००
वैराग्यके बढानेका कारण १०१-१०२
वैराग्यके साधकका स्वरूप १०३-१०४
किनके हृदयमे वैराग्य रहता है ? १०५-६७

—*—

दूसरा अध्याय.

मंगलाचरण और प्रतिज्ञा १०८

तत्त्वोंके जानकार वा न जानकारके चिन्ह १०९-११०

आत्मज्ञानी तथा अनात्मज्ञानी कुटुंबको कैसा मानते हैं ? १११-११२

आत्मज्ञानी अनात्मज्ञानी शरीरको कैसा मानते हैं ? ११३-११४

आत्माको शरीररूप माननेवाले वा शरीररूप न माननेवाले कैसे होते है ? ११५-११६

शरीरको सुखदायी माननेवालोंका स्वरूप ११७-११८

अज्ञानी ही इंद्रियसुखकी प्रशंसा करता है ११९-१२०

मूर्ख और ज्ञानी अपना समय किस प्रकार व्यतीत करते है १२१-१२२

परपदार्थोके स्वरूपको अलभ्य कौन मानता है ? १२३-१२४

आत्माको पुद्गलोंके द्वारा प्रेरित माननेवालोंका स्वरूप १२५-१२६

त्याग और ग्रहण करनेवालोंका स्वरूप १२७-१२८

ज्ञानी वा अज्ञानी आत्माकी सत्ता कहा मानते हैं ? १२९-१३०

किसका परिभ्रमण सफल वा निष्फल है ? १३१-१३२

आत्माको स्वसंवेद्य माननेवाले और न माननेवाले कैसे हैं ? १३३-१३४

ज्ञानी अज्ञानी किसको शत्रु वा मित्र मानते है १३५-१३६

आत्मज्ञानी अनात्मज्ञानीका कार्य १३७-१३८

आत्माके भेदोंको जाननेवाला और न जाननेवाला क्या करता है ? १३९-१४०
चेतन अचेतनको कौन जानता है कौन नहीं ? १४१-१४२
ज्ञानी अज्ञानीको कहा अच्छा लगता है ? १४३-१४४
मूर्ख, बुद्धिमान क्या करते हैं ? १४५-१४६
मूर्ख, ज्ञानीके चिन्ह १४७-१४८
विरक्त ज्ञानी और विरक्त अज्ञानी क्या करता है ? १४९-१५०
तपश्चरण करनेवाले ज्ञानी अज्ञानीमेंसे कौन मोक्ष जाता है ? १५१-१५२
ज्ञानी, अज्ञानीको तपश्चरणका फल १५३-१५४
रागद्वेषके वश कौन होता है, कौन नहीं ? १५५-१५६
मोहके उदयसे और मोहके नाशसे यह जीव क्या करता है ? १५७-१५८
सुसंस्कार वा कुसंस्कारसे यह जीव क्या करता है ? १५९-१६०
किसका हृदय संतप्त रहता है और किसका नहीं ? १६१-१६२
अपने दोषोंको कौन जानता है, कौन नहीं ? १६३-१६४
भोगादिकोंकी इच्छा कौन करता है, कौन नहीं ? १६५ १६६
अपने स्वरूपमें कौन पडता है और परमें कौन पडता है ? १६७-१६८
पुल्लिंगादिकोंको धारण करनेवाला कौन है, कौन नहीं ? १६९-१७०

परपदार्थोंमें कौन रति करता है, कौन नहीं १७१-१७२
आत्माको जाननेवाला क्या करता है,
नहीं जाननेवाला क्या करता है ? १७३-१७४
निंद्य मार्गसे कौन चलता है और श्रेष्ठ मार्गसे
कौन चलता है ? १७५-१७६
पदार्थोंको ज्ञानी और अज्ञानी किस प्रकार
मानता है ? १७७-१७८
ज्ञानी और अज्ञानी कहां सुख मानते हैं ? १७९-१८०
ज्ञानी और अज्ञानी क्या पूछता है ? १८१-१८२
परपदार्थोंमे कौन सुख मानता है, कौन नहीं ? १८३-१८४
ज्ञानी अज्ञानी कहा सोता है, कहा जगता है ? १८५-१८६
मूर्ख और ज्ञानी कहा कहा रहना चाहते हैं ? १८७-१८८
ज्ञानी और अज्ञानी किस किसकी शुद्धि
करते हैं ? १८९-१९०
ज्ञानी और अज्ञानी कहा संतुष्ट रहते हैं ? १९१-१९२
ज्ञानी और अज्ञानी आत्माको किस प्रकार देखना
चाहते है ? १९३-१९४
आत्माको नया पुराना कौन मानता है ? १९५-१९६
तत्त्वोंका स्वरूप ज्ञानी किस प्रकार मानता है
तथा अज्ञानी किस प्रकार मानता है ? १९७-१९८
ज्ञानी परिभ्रमण नहीं करता, अज्ञानी करता है
इसका कारण ? १९९-२००

तत्वोंको जानकर ज्ञानी क्या करता है और
अज्ञानी क्या करता है? २०१-२०२
ज्ञानी अज्ञानी किसके लिए प्रयत्न करते हैं? २०३-२०४
अपने आत्मामें संतुष्ट रहनेवाला दूसरोंके साथ
बातचीत करता है वा नहीं? २०५-२०७
प्रशस्ति १—६
पावागढ यात्राका विवरण १—२०

—=—

ग्रंथ-परिचय.

पूज्यवर आचार्यवर्य श्री कुंथुसागरजी महाराजकी विद्वत्ता जगत्प्रसिद्ध है। इसमे आपकी सुपाठ्य रचना ही प्रमाण है। चतुर्विंशति-स्तुति, मोक्षमार्गप्रदीप, शांतिसागर चरित्र, निजात्म-शुद्धिभावना, बोधामृतसार, ज्ञानामृतसार आदि कितने ही संस्कृत ग्रंथ आपके निर्माण किए गए हैं। आपने पूज्यवर आचार्य सुधर्म-सागरजी महाराजसे ही संस्कृत भाषाका तथा अध्यात्मशास्त्रोंका अध्ययन किया है। आचार्य श्री सुधर्मसागरजी की विद्वत्ता अगाध थी। यह बात उनके द्वारा निर्माण किए हुए संस्कृत-भाषाके चतुर्विंशति स्तुति, सुधर्मध्यानप्रदीप और सुधर्मश्रावकाचारके पढने से ही प्रगट हो जाती है। आचार्य श्री कुंथुसागरजी महाराजने उन्हीं अपने स्वर्गीय विद्यागुरुके स्मरणार्थ यह सुधर्मोपदेशामृतसार नामका उत्तम ग्रंथ निर्माण किया है। इसमें दो अध्याय है पहले अध्याय मे वैराग्यका निरूपण है। और दूसरे अध्याय में अध्यात्मतत्त्वका निरूपण है। आपने दोनों ही विषयों को बडी उत्तमतासे तथा अनेक प्रकारसे निरूपण किया है। प्रकरणानुसार स्याद्वाद-निरूपण, तत्त्व-निरूपण, बहिरात्म, अन्तरात्म, परमात्म-निरूपण, लेश्याएं, द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म आदि कितने ही सैद्धान्तिक विषयोंका निरूपण है। वास्तवमें यह ग्रंथ मननपूर्वक अध्ययन करने योग्य है। यह हम लोगोंके लिये सौभाग्यकी बात है कि इस वर्तमान समयमें भी ऐसे उत्तम ग्रंथो की रचनासे संस्कृत साहित्यकी उन्नति होरही है।

श्रीवीतरागाय नमः

आचार्यप्रवर श्रीकुन्थुसागरविरचित

सुधर्मोपदेशामृत.

[धर्मरत्न प. लालारामजी शास्त्री कृत भाषा-टीका सहित]

मंगलाचरण.

जितेन्द्रियान् जिनान् नत्वा सिद्धान् स्वर्मोक्षदायकान् ।
आचार्यपाठकान् साधून् स्वानन्दस्वादकान् सदा ॥ १ ॥

अर्थ—मैं सबसे पहले समस्त इंद्रियोंको जीतने के कारण समस्त पदार्थोंको जाननेवाले भगवान् अरहंत देव को नमस्कार करता हूं तदनंतर स्वर्ग मोक्ष को देनेवाले भगवान् सिद्धपरमेष्ठी को नमस्कार करता हू तथा सदाकाल अपने आत्मजन्य आनंद का स्वाद लेनेवाले आचार्य, उपाध्याय और साधुओंको नमस्कार करता हू ।

भावार्थ—ये पांचो परमेष्ठी ही संसार में मंगलरूप हैं सर्वोत्तम है और समस्त जीवों को शरण भूत हैं । इसलिए ग्रंथ के प्रारंभ में मैं सब से पहिले इन्हींको नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

भक्त्या समन्तभद्रादीन् स्याद्वादरसिकांस्तथा ।
नत्वा शान्तिसुधर्मौ च दीक्षाशिक्षाप्रदौ वरौ ॥ २ ॥

अर्थ—तदनतर मै स्याद्वादसिद्धान्त के अत्यत रसिक ऐसे समन्तभद्र आदि समस्त आचार्योंको भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूं और फिर मैं अपने दीक्षागुरु श्रेष्ठ आचार्य श्री शान्तिसागर को नमस्कार करता हू तथा विद्या गुरु श्रेष्ठ आचार्य श्री सुधर्मसागरको नमस्कार करता हू ॥२॥

सुधर्मोपदेशामृतसारोयं विश्वशान्तये ।
लिख्यते स्वात्मनिष्ठेनाचार्येण कुंथुसिंधुना ॥ ३ ॥

अर्थ—अपने आत्मामे सदा काल लीन रहनेवाला मै आचार्य श्री कुंथुसागर इन समस्त ससारी आत्माओको शान्ति प्राप्त करानेके लिये यह सुधर्मोपदेशामृसार नामका ग्रंथ लिखता हूं। इस ग्रंथमे जो कुछ वर्णन किया है उसे आचार्य श्री सुधर्मसागरस्वामीके उपदेशरूपी अमृतका सार ही समझना चाहिये । इसलिये इस ग्रथका नाम श्री सुधर्मोपदेशामृतसार रक्खा गया है ।

प्रश्न—भावशुद्धेर्विना स्याद्धो ! वैराग्य सफलं नवा ।

अर्थ— हे गुरो ! इस संसारमें परिणामोंकी शुद्धिके विना मोक्षरूप फल देनेवाला वैराग्य प्राप्त हो सकता है अथवा नही ।

उत्तर—वैराग्यस्य समुत्पत्तिर्वृद्धिश्चमफाला कदा ।
भावशुद्धेर्विना न स्याद्भावशुद्धिस्ततः परा ॥ ४ ॥

अर्थ—इस संसारमें परिणामोंकी शुद्धिके विना मोक्षरूप फलको देनेवाली वैराग्यकी उत्पत्ति और वैराग्यकी वृद्धि कभी नहीं हो सकती

इसलिये कहना चाहिये कि वैराग्यके उत्पन्न होने मे परिणामो की विशुद्धिका होना सर्वोत्कृष्ट कारण है।

आगे भावशुद्धि कैसे होती है यह दिखलाते हैं—

प्रश्न—भावशुद्धिः कथं स्याद्धो ! जीवस्य सहजात्मिका।

अर्थ—हे भगवन् ! इन संसारीजीवोंके स्वभाव से ही होनेवाली परिणामोंकी विशुद्धि किस प्रकार प्राप्त हो सकती है।

उत्तर—भावशुद्धिः प्रजायेत लेश्याशुद्धेः स्वभावजा।
तस्माल्लेश्याविशुद्धिश्च धारणीया सदा बुधैः ॥ ५ ॥

इस संसार मे लेश्याओंकी विशुद्धि होने से परिणामोंकी विशुद्धि अपने आप हो जाती है। इसलिए बुद्धिमानोंको लेश्याओंकी विशुद्धि सदाकाल बनाये रखनी चाहिए।

भावार्थ—कषायोंसे मिले हुए आत्मा के परिणामोको लेश्या कहते है। जिन आत्मा के परिणामों मे कषायोंकी तीव्रता होती है उन परिणामोंको अशुभ लेश्याएं कहते हैं तथा जिन परिणामोंमे कषायोंकी मंदता होती है उनको शुभ लेश्याएं कहते है। इससे यह सिद्ध होता है कि कषायोंकी तीव्रता न रखना वा कषायोंकी अत्यंत मंदता रखना लेश्याओंकी विशुद्धि मे कारण है। कषायोको तीव्र रखना वा मंद रखना प्रत्येक मनुष्य के हाथ मे है। प्रत्येक मनुष्य कषायोंको मंद कर सकता है। इस के लिए थोड़ेसे श्रेष्ठ विचारों की आवश्यकता है। बुद्धिमान् मनुष्य यदि अपनी श्रेष्ठ बुद्धि से काम ले तो वह अपनी कषायोंको मंद कर सकता है और लेश्याओंको विशुद्ध बना सकता है।

इसीलिए आचार्य महाराज ने बुद्धिमानोको लेश्याओकी विशुद्धता को धारण करने का उपदेश दिया है ।

आगे लेश्याओका स्वरूप कहते हैं—

प्रश्न—**लेश्याः कीदृशाः सन्ति कति वा श्रीगुरो वद !**

अर्थ—हे गुरो ! लेश्याएं कितनी हैं और कैसी है कृपाकर नाम सहित उन का स्वरूप कहिये ।

उत्तर—**रागद्वेषस्पृहामूलार्त्तरौद्रध्यानवर्द्धिनी ।**
निर्दया क्रोधकर्त्री स्यात्कृष्णलेश्या भयकरा ॥ ६ ॥

अर्थ—जो लेश्या रागद्वेष और तीव्र लालसा के मूल कारणभूत आर्तध्यान और रौद्रध्यान को वढानेवाली है तथा दयाभावसे सर्वथा रहित तीव्र क्रोध को उत्पन्न करनेवाली और अत्यंत भयकर है उसको कृष्णलेश्या कहते हैं ।

भावार्थ—कृष्ण शब्द का अर्थ काला है । जिस प्रकार काला रग सहसा नही छूट सकता उसी प्रकार कृष्ण लेश्या का छूटना भी अत्यंत कठिन है । जिस प्रकार काले रग से पदार्थ का रग काला हो जाता है उसी प्रकार कृष्ण लेश्यासे आत्मा भी काला अर्थात् तीव्र पापी हो जाता है । यह कृष्ण लेश्या आर्तध्यान और रौद्रध्यान को बढाने वाली है । इष्टवियोग और अनिष्टसयोग से उत्पन्न होनेवाले दुःखोंके चिंतवन को आर्तध्यान कहते है । यह आर्तध्यान तिर्यंचगति का कारण है । इसी प्रकार तीव्र हिंसा अथवा तीव्र हिंसा के साधनोंसे अत्यंत प्रसन्न होना रौद्रध्यान है । यह रौद्रध्यान नरक का कारण है । इन दोनों ध्यानोका मूल कारण रागद्वेष की तीव्रता अथवा भोगोकी

तीव्र लालसा है । जहां रागद्वेष की अत्यंत तीव्रता होती है वहां पर दया का पालन कभी नहीं हो सकता । इसीलिए इस कृष्णलेश्या को सर्वथा दयारहित कहते हैं । तथा जो दयारहित होता है वह तीव्र क्रोधी अवश्य ही होता है । क्रोध की तीव्रता से ही दया का सर्वथा अभाव होता है । इसीलिए इस लेश्याको तीव्र क्रोध करनेवाली बतलाया है । जो लेश्या तीव्र क्रोध से भरपूर है, दयाभाव से सर्वथा रहित है और नरक निगोद को ले जानेवाले रौद्रध्यान या आर्तध्यान को बढाने वाली है ऐसी यह कृष्णलेश्या भयंकर वो अपने आप ही सिद्ध हो जाती है । बुद्धिमानोंको ऐसी कृष्ण लेश्या का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए । इसीलिए आचार्योंने इसका स्वरूप बतलाया है ।

अलसस्य कुबुद्धेश्च वर्द्धिनी भववारिधेः ।
भीरुत्वहास्यरत्यादेर्नीललेश्यास्ति दुःखदा ॥ ७ ॥

अर्थ—जो लेश्या आलस्यको बढानेवाली है कुबुद्धिको बढानेवाली है, संसाररूपी समुद्रको बढानेवाली है, जो भीरुत्व, हास्य, रति, अरति आदिको बढानेवाली है और तीव्र दुःख देनेवाली है उसको नीललेश्या कहते हैं ।

भावार्थ—नील शब्दका अर्थ नीला रंग है । जिस प्रकार नीला रंग काले रंगसे कुछ हलका होता है उसी प्रकार नीललेश्या कृष्णलेश्यासे हलकी होती है । कृष्णलेश्यासे हलकी होनेपर भी नीले रंगके समान बडी कठिनतासे छूटती है । इस नीललेश्याको धारण करनेवाला जीव बहुत ही आलसी होता है तथा आलसी होनेके कारण वह अपने आत्माका कल्याण वा व्रत जप, तप आदि कुछ नहीं कर सकता । नीललेश्याको

धारण करनेवालेकी बुद्धि भी कुबुद्धि वा मिथ्या बुद्धि रूप परिणत हो जाती है। तथा मिथ्याबुद्धिको धारण करनेसे ही उसका संसाररूपी समुद्र सदा बढता रहता है। मिथ्याबुद्धिके ही कारण वह महादुःख देनेवाली नरकादिक अशुभ योनियोंमे ही सदाकाल परिभ्रमण किया करता है। इसके सिवाय जो जीव इस नीललेश्या के कारण मिथ्या बुद्धिको धारण करता है वह सदा काल ससार रूपी समुद्रमे परिभ्रमण किया करता है इसलिये इस नील लेश्या मे ससाररूपी समुद्रकी भी वृद्धि होती है। यह नील लेश्या बुद्धिको मदा मद किया करती है। सातों प्रकारके भयको उत्पन्न करती रहती है। नीललेश्या के होनेसे इस लोकका भय, परलोकका भय, आकस्मिकभय, वेदनाका भय, राजभय, परचक्रभय आदि अनेक प्रकारके भय सदाकाल हृदयमे बैठे रहते हैं। नीललेश्या को धारण करनेवाला जीव हसी मजाक किया करता है तथा इष्ट अनिष्ट पदार्थोसे रागद्वेष किया करता है तथा इन सब कारणोसे अशुभ कर्मोका तीव्र बंध किया करता है। इसलिए यह लेश्या दुःख देनेवाली बतलाई गई है। जो पुरुष इस नील लेश्याको धारण करता है वह इस लोकमे भी वध, बंधन, मारण, ताडन आदि अनेक प्रकार के दुःखो को प्राप्त होता है और परलोकमे भी नरकादिक के घोर दु खो को प्राप्त होता है। इस प्रकार यह नील लेश्या का स्वरूप है।

आगे कापोत लेश्या का स्वरूप कहते है—

शोकसन्तापकर्त्रीति परनिंदात्मशंसिनी ।
ज्ञेया कापोतलेश्या च त्याज्या वैराग्यहेतवे ॥ ८ ॥

अर्थ—जिस लेश्याके होने से इस जीव के सदा शोक उत्पन्न होता रहे, सन्ताप उत्पन्न होता रहे. जिस लेश्याके होने से इस जीवके परिणाम दूसरोंकी निंदा करने के लिए और प्रशंसा करने के लिए सदा उद्यत बने रहें उस को कापोतलेश्या कहते है।

भावार्थ—कपोत शब्द का अर्थ कबूतर है। कबूतर का रंग नीले रंग से कुछ हलका कुछ कुछ काला होता है। उसी प्रकार कापोती लेश्या नीललेश्यासे कुछ हलकी रहती है। परंतु उस में कालिमा होने से अशुभ ही गिनी जाती है। इस कापोती लेश्याको धारण करनेवाला जीव थोडे से ही इष्ट पदार्थोंका वियोग होनेपर शोक और संताप करने लगता है, तथा थोडेसे ही अनिष्ट पदार्थोंका संयोग होनेपर शोक संताप करने लगता है। इस लेश्या को धारण करनेवाला पुरुष सदा यही चाहता रहता है कि इस संसार मे सर्वत्र मेरी ही प्रशंसा हो, दूसरे किसी की भी प्रशंसा न हो इसीलिए वह दूसरोंकी निंदा भी किया करता है। इन्हीं सब कारणों से यह लेश्या त्याग करने योग्य है। इस लेश्याका त्याग किये विना वैराग्यकी उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। इसलिये वैराग्य धारण कर आत्मकल्याण करने वालों को इस कापोती लेश्याका त्याग भी सदाके लिये कर देना चाहिये। इसप्रकार कापोती लेश्याका स्वरूप कहा।

आगे पीत लेश्याका स्वरूप कहते हैं—

सुबुद्धिकार्यकौशल्यवर्द्धिनी तापहारिणी।
लाभालाभक्रियातुष्टा पीतलेश्या शुभकरा ॥ ९ ॥

अर्थ—जिस लेश्याके होनेसे उत्तम बुद्धि बढती रहे, कार्यो के करनेकी कुशलता बढती रहे, ससारके सताप सब दूर होते रहे हानि लाभके कार्योंमें संतोष बना रहे और आत्माका सदा काल कल्याण होता रहे उसको पीत लेश्या कहते है ।

भावार्थ—पीत शब्दका अर्थ पीला है, जिस प्रकार पीले रगमे कालिमा नहीं होती उसीप्रकार पीत लेश्यामे कृष्ण नील कापोत लेश्याओंके समान कालिमा वा अशुभपना नहीं होता । इसीलिये यह लेश्या शुभ मानी जाती है । इस लेश्याको धारण करनेवाले जीवकी बुद्धि सुबुद्धि होती है और वह सुबुद्धि सदा बढती रहती है । इसी प्रकार उस जीवके प्रत्येक कार्य करने की चतुरता बनी रहती है तथा वह चतुरता शुभकामोमे ही परिणत होती है तथा प्रतिदिन बढती रहती है, इस पीतलेश्याको धारण करनेवाला जीव इष्टपदार्थों के वियोग होनेपर वा अनिष्ट पदार्थोंके सयोग होनेपर भी कभी शोक सताप नहीं करता, वह पुरुष जिस प्रकार अधिक लाभ होनेपर सतोष धारण करता है उसीप्रकार थोडा लाभ होनेपर भी तथा हानि होनेपर भी सतोष धारण करता है । इन्ही सब कारणोसे यह लेश्या कल्याण करनेवाली है । इस लेश्याके होनेसे इस लोकमे भी सुख मिलता है और परलोक के लिए भी शुभ कर्मोंका बध होता है । इस प्रकार इस पीतलेश्या का स्वरूप कहा ।

अब आगे पद्मलेश्या का स्वरूप कहते है—

त्यागशीलकृपामूर्तिः क्षमापुण्यप्रकाशिनी ।
गुरुदेवार्चने दक्षा पद्मलेश्या प्रियंकरा ॥ १० ॥

अर्थ—जिस लेश्याके होने से दान देने के परिणाम हो, व्रत, शील पालन करने के परिणाम हो, दया धारण करने के परिणाम हों, विवेक और शुभभावो से देव, शास्त्र, गुरु की पूजा करने के परिणाम हों और समस्त जीवोंके हित करने के परिणाम हों, उस लेश्या को पद्म लेश्या कहते हैं।

भावार्थ—पद्म शव्द का अर्थ सफेद कमल है, जो कमल के समान निर्मल परिणामोको वनाये रक्खे उसको पद्म लेश्या कहते है। पद्मलेश्या को धारण करनेवाला जीव सुपात्रोंको चारो प्रकार का दान देता रहता है, व्रत और शीलोंको पालन करता है, समस्त जीवोकी रक्षा करने में या दया पालन करने मे सदाकाल तत्पर रहता है, वह पुरुष सव जीवोपर क्षमा धारण करता है, वह पुण्य को उपार्जन करने वाले ही सव काम करता है पापोसे सदा डरता रहता है, तथा प्रतिदिन विवेकपूर्वक देव, शास्त्र, गुरु की पूजा मे दत्तचित्त रहता है। ऐसा पुरुष अपना कल्याण भी करता है और अन्य समस्त जीवोंके कल्याण करने में लगा रहता है। इस प्रकार यह पद्मलेश्या सव प्रकार से शुभ मानी जाती है शुभ कर्मोंके उदय से होती है और शुभ कर्मोंका ही वंध करती रहती है। इस प्रकार पद्मलेश्या का स्वरूप कहा।

अव आगे शुक्लेश्याका स्वरूप कहते हैं।

रागद्वेषादिनिर्मुक्ता पक्षपातविवर्जिता।
स्वानन्दस्वादिनी नित्य शुक्ललेश्या शिवकरा॥ ११॥

अर्थ—जिस लेश्याके होनेसे रागद्वेष सव छूट जाय, पक्षपात सव नष्ट होजाय और अपने शुद्ध आत्मासे उत्पन्न होनेवाले आनंद

का स्वाद प्राप्त होता रहे ऐसी मोक्ष देनेवाली लेश्याको शुक्ललेश्या कहते हैं।

भावार्थ---शुक्ल शब्दका अर्थ सफेद है। जिसप्रकार सफेद रंगमें कोई दूसरा रंग नहीं होता उसी प्रकार शुक्ल लेश्यामें शुभ अशुभ किसी भी कर्मका तीव्रबंध नही होता। इसका भी कारण यह है कि शुक्ल-लेश्याको धारण करनेवाले पुरुषके रागद्वेष की तीव्रता नहीं होती, रागद्वेष अत्यंत मंद होता है तथा रागद्वेष मंद होनेसे किसी भी इष्ट अनिष्ट पदार्थमे पक्षपात नहीं रहता है। इस प्रकार जब रागद्वेष पक्षपात आदि सब नष्ट हो जाते हैं तब वह आत्मा अपने आत्मासे उत्पन्न होनेवाले अनंत आनंदका अनुभव करता रहता है। इसप्रकार अपने शुद्ध आत्माका अनुभव करते करते नवीन कर्मोंके बंधका अभाव होजाता है सत्तामे रहनेवाले कर्मोंकी निर्जरा बढती रहती है और इसप्रकार समस्त कर्मों की निर्जरा हो जानेपर इस जीवको मोक्ष की प्राप्ति हो जाती हैं। इस प्रकार यह शुक्ललेश्या मोक्ष देनेवाली कही जाती है। इस प्रकार शुक्ललेश्याका स्वरूप कहकर छहो लेश्याओंका स्वरूप कहा।

आगे इनका शुभाशुभपना बतलाते हैं—

आद्यास्तिस्रोऽशुभा हेयाः श्वभ्रादिदुःखदायिकाः।
अन्त्याः शुभाः सदा ग्राह्या भव्यैः शिवसुखाप्तये ॥ १२ ॥

अर्थ—इन ऊपर कही हुई छहों लेश्याओंमेंसे पहलेकी कृष्ण, नील, कापोत ये तीन लेश्याएं अशुभ हैं और नरकादिकके घोर दुःख देनेवाली हैं। इसी लिए ये तीनों लेश्याएं त्याग करने योग्य है तथा अंतकी पीत, पद्म,

शुक्ल लेश्याएं शुभ है और परंपरासे मोक्ष प्राप्त करानेवाली है। इस लिए भव्यजीवों को मोक्षसुख प्राप्त करनेके लिए अतकी तीन लेश्याये ही धारण करनी चाहिए। क्यो कि इन लेश्याओंके धारण करनेसे परिणामोंमे विशुद्धता होती है और परिणामोंमे विशुद्धता होनेसे वैराग्य की प्राप्ति होती है। वैराग्य प्राप्त होने से तपश्चरण धारण किया जाता है और तपश्चरण धारण करने से मोक्षकी प्राप्ति होती है।

आगे वैराग्यकी वृद्धि का उपाय बतलाते है।

प्रश्न—**वद वैराग्यवृध्यै किं पालनीय न वा प्रभो ?**

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस वैराग्यको बढानेके लिए क्या पालन करना चाहिये और किसका त्याग करदेना चाहिये।

उत्तर—**वैराग्यवृध्यैः परिवर्जनीयं दुःशीलमेवाखिलदुःखबीजम् ।**
ज्ञात्वा मिथः प्राणहर तथैवाविश्वासपात्रं सकले च लोके ॥१३॥
सुशीलमेवं निजराज्यमूलमिहान्यलोके सुखदं सुसारम् ।
विश्वासबीजं च मिथस्त्रिलोके ज्ञात्वेति पाल्य वरशीलरत्नम्॥१४

अर्थ—इस भव्यजीवको अपने वैराग्य को बढानेके लिये सबसे पहले अब्रह्म या कुशीलका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। इसका भी कारण यह है कि यह कुशील समस्त दुःखोका मूल कारण है, परस्पर एक दूसरेके प्राण लेनेवाला है और समस्त लोकमे अविश्वासका पात्र है। इसी प्रकार वैराग्य की वृद्धि के लिये भव्यजीवको ब्रह्मचर्य या शीलव्रत पालन करना चाहिये। यह ब्रह्मचर्य या शीलव्रत अपने आत्माकी शुद्धतारूप राज्यका मूल कारण है, इसलोकमे भी सुख देनेवाला है

और परलोकमें भी सुख देनेवाला है। इसके सिवाय यह ब्रह्मचर्य समस्त व्रतोंमे सारभूत है और तीनो लोकोंमे परस्पर विश्वास उत्पन्न करनेवाला है। यही समझकर भव्यजीवोंको इस शीलरत्नका पालन सदाकाल करते रहना चाहिये।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य आत्माका एक निर्विकार निर्मल भाव है। उस आत्माके निर्मलभावमें जब विकार उत्पन्न होता है तब अब्रह्म वा कामविकार उत्पन्न होता है। इसी लिये कामविकार पापका कारण है और दोनों लोकोंमे दुःखोंका कारण है। तथा ब्रह्मचर्य पालन करनेसे इस लोकमें भी सुख मिलता है और परलोकमें भी सुख मिलता है। इस संसारमे ऋद्धि सिद्धि आदि जितने माहात्म्य है वे सब इस ब्रह्मचर्यके पालन करनेसे ही प्रगट होते हैं। इसी लिये इस ब्रह्मचर्यको वैराग्य वृद्धिका मुख्य कारण माना है और वैराग्यको स्थिर रखनेके लिये इसका पालन सदा काल करते रहना चाहिये।

आगे शरीरका स्वरूप कहते है—

प्रश्न—**वपुरिद गुरो कीदृगस्ति मे साम्प्रतं वद ?**

अर्थ—हे गुरो अब कृपाकर यह बतलाइये कि यह शरीर कैसा है।

उत्तर—**देहोस्त्यनित्योऽवकरस्य तुल्य-**

स्त्याज्यस्तथा भ्रान्तिकरश्च निंद्यः

व्याध्यादिवासः पिशितास्थिपिण्डोऽ

सारः सदा रम्भतरोः समानः ॥ १५ ॥

दुष्टः कृतघ्नश्च विनाशशीलः । बीभत्समूर्तिर्भवति व्यथादः

ज्ञात्वेति देहे ममता न कार्या वैराग्यवृध्द्यै स्वसुखेन तुष्टैः ॥ १६ ॥

अर्थ—यह शरीर अनित्य है, विष्ठाके समान है, त्याग करनेके योग्य है, भ्रान्तिको उत्पन्न करनेवाला है, निंद्य है, अनेक व्याधियोंका निवास स्थान है, हड्डी मांस का पिंड है, केलेके वृक्षके समान असार है, दुष्ट है, कृतघ्नी है. अवश्य ही नष्ट होनेवाला है, अनेक प्रकारके दुःख देनेवाला है, और घृणास्पद है। इस शरीरके स्वरूपको इस प्रकार समझकर अपने आत्माके सुखमे संतुष्ट रहनेवाले भव्यजीवोंको अपने वैराग्य को बढानेके लिये इस शरीरमे कभी मोह नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—ये संसारी जीव इस शरीरकी बहुत ही सेवा करते है, प्रतिदिन स्नान कराते है अच्छे वस्त्र पहिनाते है और अच्छे अच्छे भोजन कराते हैं तथापि यह शरीर इतना दुष्ट और कृतघ्न है कि यदि इसको एक दिन भी भोजन न दिया जाय तो फिर कुछ भी कहा नहीं करता। इसके सिवाय वह प्रति दिन जीर्ण शीर्ण होता जाता है और किसी न किसी दिन अवश्य नष्ट होता है। हड्डी मांस रुधिर आदि अपवित्र और घृणित पदार्थोंसे बना है और उन्हींसे भरा है। यदि सुंदरसे सुंदर शरीर के भीतरका भाग बाहर कर दिया जाय तो अत्यंत घृणाके कारण लोग उसे देख भी नहीं सकते। ऐसे शरीरसे मोह रखना सिवाय अज्ञानताके और कुछ नहीं कह सकते। इसलिये आत्माका कल्याण करनेवाले भव्यजीवों का इससे मोह वा ममता कभी नहीं करनी चाहिये।

आगे—इस जीवको किसकी आशा करनी चाहिये और किसको नहीं यही बतलाते हैं—

प्रश्न—कार्या वैराग्यवृद्ध्यै भो धनाशा कीदृशी न वा?

अर्थ--हे भगवन् अपने वैराग्य को बढाने के लिये कैसे धनकी आशा करनी चाहिये और कैसे धनकी आशा नहीं करनी चाहिये।

उत्तर—उपार्जने रक्षणसेवनेपि दुःखप्रदां सौख्यहरां प्रदुष्टाम्।
त्यक्त्वा धनाशां श्रममोहमूलां मिथस्तथा वैरविरोधदक्षाम्।१७।
उपार्जने रक्षणसेवनेपि शान्तिप्रदा भ्रांतिहरात्मनिष्ठा।
स्वद्रव्यवांच्छा स्वचतुष्टयान्ता कार्यात्मनिष्ठेन नरेण नित्यम् १८

अर्थ—इस धन के उपार्जन करनेमें, रक्षण करनेमे और इसका उपभोग करनेमें सदा दु.ख होता है, इसी लिये यह धनकी आशा सदा दुःख देने वाली है, समस्त सुखों को नष्ट करनेवाली है, परिश्रम और मोह उत्पन्न करनेके लिये मूल कारण है, अत्यंत दुष्ट है और परस्पर वैर विरोध उत्पन्न करनेवाली है। इस लिये ऐसे धनकी आशा करनेका तो सदाके लिये त्याग कर देना चाहिये और अपने आत्माकी शुद्धता प्राप्त होनेकी इच्छा प्रतिसमय करते रहना चाहिये। इसका भी कारण यह है कि इस आत्माकी शुद्धता प्राप्त करनेमे उसकी रक्षा करनेमें और उसका उपभोग करनेम सदा शाति ही प्राप्त होती रहती है। इसके सिवाय यह शुद्ध आत्माकी वाछा सव प्रकारकी भ्रान्तियों को दूर करनेवाली है और अपने शुद्ध आत्मासे संवध रखती है। अतएव अपने आत्मामे लीन रहनेवाले भव्य जीवो को जवतक अनन्तदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख, और अनंतवीर्य ये चारो अनंतचतुष्टय प्राप्त न हो जाय तवतक अपने आत्माकी शुद्धता प्राप्त करनेकी ही इच्छा करते रहना चाहिये।

भावार्थ—संसारमे जितनी आशाए है वे सव सुखके लिये की

जाती है परंतु धनकी आशा करनेमें वा उपार्जन तथा रक्षणमें सदा दुःखही उठाना पडता है इसलिये धनकी आशा से कभी सुख नहीं मिल सकता। वास्तविक सुख तो आत्माकी शुद्धतामें है। क्योंकि उस में कोई किसी प्रकारका विकार नहीं होता। इसलिये धनकी आशा का त्याग कर अपने आत्मा को शुद्ध करनेकी ही इच्छा करते रहना चाहिये जिससे कि वास्तविक सुख की प्राप्ति हो।

अब आगे कहते हैं कि रागी कहां प्रसन्न रहता है और विरक्त पुरुष कहां प्रसन्न रहता है।

प्रश्न—रमते कुत्र रागी वा विरागी वद मे प्रभो !

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपा कर मुझे यह बतलाइये कि रागी पुरुषोंको क्या अच्छा लगता है और विरक्तपुरुषों को क्या अच्छा लगता है।

उत्तर—ओष्ठे स्त्रियो रक्तमये स्तनादौ त्वग्मांसपिण्डे कुटिले कपोले
भगोदरादौ मलमूत्रकुण्डे सद्भिर्विनिंद्ये रमते सरागी ॥९॥
स्वात्मस्वरूपे परभावभिन्ने स्वानन्दसिंधौ च निजप्रदेशे
स्वच्छन्दरीत्या रमते विरागी मत्स्यो यथा शुद्धजले ह्यगाधे।

अर्थ— इस संसारमें रागी पुरुष रुधिरसे भरे हुए स्त्रियो के ओठो में रममाण होता है, चमडे से लपेटे हुए मांसके पिंडरूप स्तनोमें रममाण होता है टेडे मेडे कपोलों में रममाण होता है और मलमूत्र के कुंडके समान योनि या उदरमें रममाण होता है। ये स्त्रियोंके ओठ, स्तन, योनि, उदर आदि सब सज्जनों के द्वारा अत्यंत निंद्य माने जाते हैं तथापि रागी पुरुष इन्हीं में प्रसन्न रहता है। परन्तु विरक्त पुरुष

अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमे ही रममाण होता है। यह आत्माका शुद्ध स्वरूप पुद्गलादिक परपदार्थोंसे सर्वथा भिन्न है और अपने आत्मजन्य अनंतसुखका सागर है। जिस प्रकार मछली अगाध शुद्ध जलमें अपनी इच्छानुसार क्रीडा करती है उसी प्रकार यह विरक्तपुरुष भी अपने आत्माके शुद्धस्वरूप प्रदेशो में सदाकाल स्वतन्त्रताके साथ रममाण बना रहता है। भावार्थ—रागी पुरुषो को निंदनीय पदार्थ ही अच्छे लगते हैं और विरक्त पुरुषोंको अपना शुद्ध आत्मा ही अच्छा लगता है। वास्तविक सुख भी शुद्ध आत्मामे है। इसलिये सज्जनोको शुद्ध आत्मामें ही लीन रहना चाहिये स्त्रियो के शरीरमें कभी राग नही करना चाहिये।

आगे भाई बधु कोई भी परलोकमें साथ नही जाता यही बतलाते हैं।

प्रश्न—**बांधवा. परलोके च सम यान्ति न वा गुरो !**

अर्थ—हे भगवन् इस संसारमे भाई बंधु आदि कुटुंबीजन परलोकमें भी साथ जाते है वा नहीं ?

उत्तर–देहोऽपि ते याति सम क्वचिन्न देहस्य संबधिजनस्त्वया कः।
दासी च दासोऽखिलबधुवर्गस्त्वां याति मुक्त्वा पथिको यथा नृन्
साम्राज्यलक्ष्मीः सुखदा च भार्या मित्रं सुतस्तिष्ठति यत्र तत्र।
न याति सार्द्धं किमपि त्वया वा ज्ञात्वेति युक्त्या कुरु चात्मशुद्धिम्

अर्थ—हे आत्मन् ! तेरे साथ उत्पन्न होनेवाला यह शरीर भी कहीं भी तेरे साथ नही जाता फिर भला इस शरीरसे संबंध रखनेवाले कुटम्बी वा परिवारके लोग तेरे साथ कैसे जा सकते हैं ? जिस प्रकार कोई पथिक पुरुष अन्य मनुष्यों को मार्गमें ही छोडकर अपने मार्गपर

चला जाता है उसी प्रकार भाई बंधु आदि समस्त कुटुंबीजन तथा दासी दास आदि सब तुझे छोडकर अपने काममे लग जाते है। यह छहो खंड की साम्राज्यलक्ष्मी, सुख देनेवाली भार्या, पुत्र, मित्र आदि सब यहा यहा रह जाते हैं, तेरे साथ परलोक मे कोई भी पदार्थ साथ नहीं जाता। यही समझकर अपनी युक्ति से काम लेकर अपने आत्मा की शुद्धता प्राप्त करनी चाहिए।

भावार्थ—जब यह मनुष्य मर जाता है और उस मृतक को श्मशान में ले चलते हैं तब भार्या तो घरके दरवाजे तक ही रह जाती है और बकी के कुटुंब परिवार के लोग श्मशान तक जाते है परंतु उस मृतक को जलाकर घर वापिस लौट जाते है। इस जीव के साथ परलोक तक कोई नहीं जाता। जो कुटुबी लोग इस शरीर को जलाकर घर चले जाते हैं। इन कुटुबियोंके इस कृत्य को देखकर भव्य पुरुषोंको इस कुटुब का त्याग कर देना चाहिये और ससार से विरक्त होकर अपने आत्मा का कल्याण कर लेना चाहिए॥ २१–२२॥

आगे बतलाते है कि ये संसारी जीव अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करते है।

प्रश्न—बाल्यतारुण्यवार्द्धक्य गमयन्ति कथ खला. ?

अर्थ—इस ससार मे मूर्ख दुष्ट लोग अपनी बाल्यावस्था, युवावस्था, और वृद्धावस्था किस प्रकार व्यतीत करते है, हे भगवन् अब यह बतलाइये।

उत्तर—सुखप्रदां कल्पतरोः समानां विद्यां पठित्वा न नृजन्मसाराम्
क्रीडां प्रकुर्वन रजसा हि सार्द्धं व्यतीतवान् सुन्दरबाल्यकालम् २३

लोकोन्नतिं वा च निजोन्नतिं हि शान्तिप्रदां भ्रान्तिहरां न कृत्वा।
तारुण्यकालं तरुणीसुसार्द्धं व्यतीतवान् वा व्यसनैः कुमित्रैः॥२४
निजान्यजन्तोः सुखद सुकृत्यं स्तुत्यं न कृत्वा सफलं नृजन्म।
तीव्रां धनाशां सततं प्रकुर्वन् व्यतीतवान् वै वरवृद्धकालम् ॥२५॥
मन्ये ततोऽहं भवजीवतुल्यः दृष्टो न मूर्खो निजबोधशून्यः।
संसारनाशाय स्वबोधनाय ज्ञात्वेति नित्यं कुरु पर्युपायम् ॥२६॥

अर्थ—इस ससारमे यह विद्या कल्पवृक्ष के समान सुख देनेवाली है और समस्त मनुष्य जन्म की सार भूत है। तथा उस विद्याके पढने का समय बाल्यकाल है परतु ये ससारीजीव अपने सुंदर बाल्यकालमें ऐसी सुख देनेवाली विद्याको तो पढते नहीं है,केवल रेत मिट्टीमें खेलकर अपना सुंदर बालकपन व्यतीत करदेते है। इसी प्रकार युवावस्थामे आत्माको शाति उत्पन्न करनेवाली और समस्त भ्रातियोंको दूर करनेवाली लोकोन्नति तथा अपने आत्माकी उन्नति करनी चाहिए परतु ये ससारी जीव युवावस्थामे भी न तो लोकोन्नति करते है और न अपने आत्माकी ही उन्नति करते हैं किंतु वे अपनी युवावस्था या तो तरुणस्त्रियोंके साथ व्यतीत कर डालते हैं या किसी व्यसन में फसकर व्यतीत कर देते है। अथवा कुमित्रोंके साथ व्यतीत कर देते है। इसी प्रकार वृद्धावस्थामें अपने आत्माको सुख देनेवाले तथा अन्य समस्तजीवोंको सुख देनेवाले तथा सज्जन जीवों के द्वारा प्रशसनीय ऐसे देवपूजा, पात्रदान तीर्थयात्रा आदि पुण्यकार्य सपादन कर अपने मनुष्य जन्मको सफल बनाना चाहिये परतु ये संसारी जीव वृद्धावस्थामे भी दान, पूजा आदि पुण्यके कार्य नहीं करते हैं और इस मनुष्यजन्मको व्यर्थ ही खोकर

सदाकाल केवल धनकी तीव्र लालसामें लगे रहते हैं और इसप्रकार अपने वृद्धावस्थाको पापकार्योंमें ही व्यतीत कर देते हैं। इन सब बातों को देखकर मुझे तो यह विश्वास होगया है कि इस संसारमे इन संसारी जीवोंके समान अपने आत्मज्ञानसे रहित और वज्रमूर्ख अन्य कोई नहीं है। यही समझकर हे भव्य! तू इस जन्ममरणरूप संसारको नाश करनेके लिये और अपना आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये सदाकाल प्रयत्न कर।

भावार्थ—बाल्यकालमें ज्ञान संपादन करना चाहिये, युवावस्थामें धर्म और धनका उपार्जन करना चाहिये तथा वृद्धावस्था मे देवपूजा वा पात्रदान देना चाहिये और अंतमें संसारका त्यागकर तपश्चरण कर आत्माका कल्याण करना चाहिये। इस मनुष्यजन्मका यही सार है। ॥२३-२४-२५-२६॥

आगे—इस जीवको क्या करना चाहिये यही बतलाते है।

प्रश्न—किं कर्तुं यतते लोकः कर्तव्यं किं गुरो वद?

अर्थ—हे भगवत् ये संसारीजीव क्या क्या करनेका प्रयत्न करते हैं और क्या करना चाहिये।

उत्तर—स्थातुं शरीरे विषयं प्रभोक्तुं तद्वृद्धिहेतोर्यतते सदापि।
न स्थीयते भुज्यत एव चायु-रायुक्षयाद्धि म्रियते हताशः॥
ज्ञात्वेति कार्यो न कदापि यत्नः स्थातुं शरीरे विषयं हि भोक्तुम्।
स्थातुं प्रयत्न स्वपदे हि कार्यं भोक्तुं सदा स्वात्मसुखं सुमिष्टम्॥

अर्थ—यह संसारीजीव सदाकाल इस शरीर मे स्थिर बने रहने के लिए प्रयत्न करता रहता है, और विषयोको भोगने के लिए सदा

काल प्रयत्न करता है, तथा इन्हीं दोनों की वृद्धि के लिए सदा काल प्रयत्न करता रहता है परंतु सदा काल प्रयत्न करनेपर भी न तो शरीर स्थिर रहता है और न विषय ही बने रहते हैं । विषयोंको भोगते भोगते यह जीव अपनी आयु को भोग लेता है और फिर आयु को भोग लेनेपर अर्थात् आयु के पूर्ण होजाने पर यह जीव हताश होकर मर जाता है । इसी बातको अच्छी तरह समझकरें इस शरीर में स्थिर रहने के लिए और विषयोंको भोगने के लिए कभी प्रयत्न नहीं करना चाहिए किंतु अपने आत्मा को अपने शुद्ध आत्मा में स्थिर रखने के लिए प्रयत्न करना चाहिए और शुद्ध आत्मा से उत्पन्न हुए अनंतमिष्ट सुख को अनुभव करने के लिए सदाकाल प्रयत्न करते रहना चाहिए ।

भावार्थ—यह शरीर और इंद्रियोंके विषय दोनो ही नश्वर हैं अवश्य नष्ट होनेवाले हैं तथा दोनो ही आत्माके दुःख देनेवाले हैं, अपवित्र करनेवाले हैं और इस आत्मा को जन्ममरणरूप संसारमें डुबाने वाले हैं । अतएव इन को बनाये रखने के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। प्रयत्न तो सदाकाल तक सुखी रहने के लिए करना चाहिये और सदा काल तक रहनेवाला सुख शुद्धआत्मामें है । इसलिए आत्मा की शुद्धता के लिए और उस शुद्ध आत्मासे उत्पन्न हुए अनंतसुख के लिए ही सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये यही अनंतकाल तक रहने वाला सुख है ॥२७-२८॥

आगे क्या छोडना और क्या कार्य करना चाहिए यही बतलाते हैं ।

प्रश्न—**किं त्याज्यं किं च कर्तव्यं वद मे साम्प्रतं गुरो ?**

अर्थ—हे गुरो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस जीव को किस का त्याग करना चाहिए और क्या कार्य करना चाहिए ।

उत्तर—भ्रान्तिप्रदं शान्तिहरं क्षणाद्धि त्यक्त्वा कषायं नरकप्रदं तम्।
मोहं च कामं विषमं व्यथादं स्वात्मस्वराज्यस्य विनाशकं च २९
स्वसाधनं संयमधारणं वा स्वानन्दपानं कुरु नित्यमेव ।
स्वात्मस्वरूपं भज सौख्यमूलं स्वराज्यलक्ष्मीं स्मर शांतिकर्त्रीम् ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू कषाय, मोह और काम इन तीनोको क्षण भरमें ही छोड दे । क्यों कि ये तीनो ही आत्मा मे भ्राति उत्पन्न करने वाले है, आत्मा की अटल शाति को हरण करनेवाले है, साक्षात् नरक को देनेवाले है और अपने आत्मा की शुद्धतारूप स्वराज्य को नाश करनेवाले है । इसके सिवाय ये तीनो ही अत्यंत भयंकर हैं और सदाकाल दुःख देनेवाले है । ऐसे इन तीनों विकारों का तू त्याग कर तथा अपने आत्मा की शुद्धता को प्रगट करनेवाले तपश्चरण वा संयम को धारण कर, प्रतिसमय अपने शुद्ध आत्मजन्य अनंतसुख का मूल कारण ऐसे आत्माके शुद्ध स्वरूप को धारण कर और अनंतकाल तक अपने आत्मा को शाति स्थापन करनेवाली आत्मा की शुद्धतारूप स्वराज्यलक्ष्मी का स्मरण कर ।

भावार्थ—क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय है । ये चारों कषायें आत्मा को दुःख देनेवाली है तथा मोह और काम तो आत्मा को दुःख देनेवाला है ही । इसलिए अपना कल्याण चाहनेवाले भव्य जीवों को इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए और संयम धारण कर आत्माकी शुद्धता प्राप्त करनी चाहिए जिससे कि यह जीव मोक्षमें जाकर

अनंतानंत कालतक अनुपमसुखोका अनुभव करता रहे ॥२९-३०॥

आगे इस जीव का कोई शरण नहीं है यही दिखलाते हैं ।

प्रश्न—**आपत्काले गुरो कोपि शरणं याति वा न वा ?**

अर्थ—हे प्रभो ! इस ससार में आपत्ति के समय मे कोई शरण है वा नहीं ?

उत्तर—**आपत्प्रकीर्णे त्वयि रोगपूर्णे पुण्यक्षये वाथ तवाङ्गजीर्णे ।**
देवो न दैत्यो न च कापि देवी स्वामी न भृत्यः शरणं प्रयाति ३१
जीवस्य लोके शरण स्वधर्मः शान्तिप्रदस्त्यक्तसमस्तपापः ।
ज्ञात्वेति दुःखैः परिपीडितेपि त्याज्यः स्वधर्मो न कदाचिदेव ३२

अर्थ—हे आत्मन् ! जब तू किसी आपत्ति मे फंस जाता है वा किसी कठिन रोगके वशीभूत हो जाता है, अथवा जब तेरा पुण्यक्षय हो जाता है, अथवा यह तेरा शरीर जीर्ण शीर्ण हो जाता है उस समय तेरी रक्षा करनेवाला तुझे शरण देनेवाला न तो कोई देव होता है, न कोई दैत्य होता है, न कोई देवी होती है, न स्वामी होता है और न कोई सेवक तुझे बचा सकता है । इस संसारमें यदि कोई शरण है तो इस जीवका एक आत्मधर्म ही शरण है यह आत्मका धर्म शातिको देनेवाला है और समस्त पापोसे रहित है । यही समझकर अनेक प्रकार के दु.खो से दु.खी होनेपर भी अपने आत्मा से उत्पन्न होनेवाले अहिंसामयधर्म को कभी नहीं छांडना चाहिए ।

भावार्थ—जितने दु.ख आते हैं वे सब पापकर्म के उदय से आते हैं तथा पाप कर्मोंका उदय किसीसे भी रोका नहीं जा सकता । इन्द्र, चन्द्र, चक्रवर्ती, देव, देवी आदि कोई भी उसको रोक नहीं सकता ।

इसलिए किसी भी दु ख के समय मे अथवा मृत्युके समय में इन्द्रादिक कोई भी देव देवी इस जीव को नहीं बचा सकता । यदि उन पाप कर्मोका उपशम वा क्षयोपशम हो सकता है तो उत्तम क्षमा आदि दश लक्षणमय धर्मसे ही हो सकता है । क्यो कि ये उत्तमक्षमा आदि धर्म आत्माके स्वभावरूप हैं। यह नियम है कि कर्मोका बंध आत्मा के कपायादिक विकारोंसे होता है तथा उनका क्षय उत्तम क्षमा आदि आत्मा के स्वभाव से होता है। इसीलिए ऊपर यह बतलाया गया है कि इस संसारी जीव को दु.खोसे बचानेवाला यदि कोई है तो वह आत्मा का धर्म अथवा उत्तमक्षमा आदि दशलक्षणधर्म है । अतएव इस जीव को अपने आत्मधर्म मे ही लीन होना चाहिये। इसीसे समस्त दु ख छूट सकते है और अनंत मोक्षसुख की प्राप्ति हो सकती है।

आगे यह अकेला जीव कहा कहा परिभ्रमण करता है यही बतलाते है ॥ ३१-३२ ॥

प्रश्न—एकाकी भ्रमति स्वामिन् जीवोऽथ क कथं वद ?

अर्थ—हे स्वामिन्! यह जीव अकेला ही परिभ्रमण करता है परंतु वह किस किस गतिमे किस किस कारण से परिभ्रमण करता है कृपा कर अब यही बतलाइये ।

उत्तर-एकोऽशुभाच्छ्वभ्रगतिं प्रयाति कृष्ण कुरूपी विरद्ध खभोगी
तिर्यग्गतिं वा कुटिलस्वभावादेकः सदाकालपराश्रितो य ॥३३॥
प्रयाति मिथ्यान्नृगतिं किलैको दु खी दरिद्री जनबंधुहीन. ।
एक. शुभात्स्वर्गगतिं प्रयाति सुखी भवेत्तत्र सदा ह्यरोगी ॥३४॥

शुद्धस्वरूपस्मरणेन तत्र ध्यानेन चानन्दपदस्य नित्यम् ।
सुखात्मिका मोक्षगति प्रयाति निरंजनस्तिष्ठति शुद्धरूप ॥२५॥

अर्थ—इस संसार में कोई एक जीव तीव्र पापकर्म के उदयसे नरकगति मे जाता है। वहापर वह अत्यंत कुरूप होता है तथा चिर कालतक महादु.ख भोगता रहता है। इसी प्रकार अपने कुटिल परिणामोसे या मायाचारी करनेसे यह जीव अकेला ही तिर्यंच गति मे उत्पन्न होता है और वहापर सदाकाल पराधीन बना रहता है। जब इस जीवके पुण्यपाप दोनोका मिला हुआ उदय होता है तब यह अकेला ही मनुष्य गति में उत्पन्न होता है और वहापर दुखी दरिद्री भाई बंधु आदि कुटुंबी जनोंसे रहित होकर दु ख भोगा करता है। जब कभी इस जीवके शुभकर्म का उदय होता है तब स्वर्ग गति में जाता है और वहापर सदाकाल नीरोग रहकर प्राय. सुखी बना रहता है। इसी प्रकार जब यह जीव आत्माके शुद्ध स्वरूपका स्मरण करता है और चिदानंदमय शुद्ध आत्माका ध्यान करता है तब यह जीव अनंत सुख मय मोक्ष गति को प्राप्त होता है तथा वहापर समस्त कर्मोंसे रहित होकर सदाकालतक अत्यंत शुद्ध अवस्था में बना रहता है।

भावार्थ—इस ससार मे कोई जीव सुखी और कोई जीव दु.खी दिखाई पडते हैं। तथा सुख पुण्य कर्म के उदय से होता है और दुःख पाप कर्म के उदय से होता है। इन पुण्य पाप दोनोकी चार अवस्थाएं हो जाती है। एक तीव्र पाप, दूसरा साधारण पाप, तीसरा साधारण पुण्य और चौथा तीव्र पुण्य। इन्हीं चारोंके उदय से चारो गतिया प्राप्त होती है। तीव्र पाप से नरक गति, साधारण पाप से

तिर्यंचगति, पुण्य से मनुष्यगति और अधिकपुण्य से स्वर्ग गति । इस ससार मे ये चारो प्रकार के पुण्य वा पाप करते हुए जीव दिखाई पडते हैं । इसलिए इन चारो गतियोंका निषेध कोई नही कर सकता । इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि जो लोग स्वर्ग नरक नही मानते हैं वे भूलते हैं। जब मनुष्यगति और तिर्यचगति ये दो गतिया यहा इस लोकमें स्पष्ट दिखाई पडती है तब अधिक पुण्य पाप के उदय से होनेवाली स्वर्ग नरकगति भी अवश्य माननी पडती है । उन के माने विना कभी काम नही चल सकता । यद्यपि चक्रवर्ती, तीर्थकर आदिके मनुष्यगति में भी तीव्र पुण्य का उदय होता है परतु वह विशेष कर्मके उदयसे विशेष पुण्योदय कहलाता है । इस प्रकार यह जीव अपने अपने कर्मके उदय से चारो गतियों मे परिभ्रमण करता रहता है । परंतु जब यह जीव अपने शुद्धोपयोगके द्वारा पुण्यरूप वा पापरूप किसी भी कर्मका बंध नहीं करता और उसी शुद्धोपयोगके द्वारा अपने पिछिले समस्त कर्मोको नष्ट कर देता है तब यह जीव समस्त कर्मोंसे रहित और अत्यत शुद्ध होकर मोक्षमे जा विराजमान होता है, और अनतानत कालतक वहीं बना रहता है । अत्यंत शुद्ध हो जानेके कारण उसके रागद्वेष कषाय आदि समस्त विकारो का अभाव हो जाता है और विकारोका अभाव होनेसे नवीन कर्मोका बंध कभी नहीं कर सकता और नवीन कर्मोका बंध न करनेके कारण फिर कभी ससार में नहीं आ सकता । इस प्रकार वह ससारके परिभ्रमणमे सदाके लिये छूट जाता है । इस प्रकार इन गतियो का स्वरूप समझ कर इस जीवको मोक्ष प्राप्त करने का उपाय करते रहना चाहिये । यही आचार्योंका अभिप्राय है ॥ ३३-३४-३५ ॥

आगे पदार्थोंकी नित्यता अनित्यता बतलाते हैं।

प्रश्न—सर्वे पदार्थाश्चानित्या नित्या वाथ गुरो वद।

अर्थ—हे गुरो! ये संसारके जीवादिक समस्त पदार्थ अनित्य हैं अथवा नित्य हैं। कृपाकर बतलाइये।

उत्तर—सर्वे पदार्थाश्चिदचित्स्वरूपा भिन्ना ह्यनित्या व्यवहारदृष्ट्या
निजात्मनो वा निवसंति नित्याः निजस्वभावे परमार्थदृष्ट्या।
ज्ञात्वेति पर्यायमतिं विहाय द्रव्यार्थदृष्ट्याऽखिलवस्तुतत्त्वम्।
गृह्णन्तु भव्याः सुखशान्तिमूलं कुजन्ममृत्योश्च विनाशनार्थम्॥

अर्थ—इस संसारमें जीव अजीव आदि जितने पदार्थ हैं, वे सब अपने आत्मासे भिन्न हैं और व्यवहार नयसे अनित्य हैं। तथा परमार्थ-दृष्टि से सब नित्य हैं और अपने अपने स्वभाव में निवास करते हैं। इन समस्त पदार्थोंका इस प्रकार स्वरूप समझकर भव्यजीवोंको अपनी पर्यायबुद्धि का त्याग कर देना चाहिए और नरक तिर्यंच आदि अशुभयोनियोंमें होनेवाले जन्म मरणको नाश करनेके लिए सुख और शान्तिका मूल कारण ऐसे समस्त पदार्थोंका स्वरूप द्रव्यार्थिक दृष्टि से ही ग्रहण करना चाहिए।

भावार्थ—प्रत्येक पदार्थमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीन गुण सदाकाल विद्यमान रहते हैं। उत्पन्न होने को उत्पाद कहते हैं, नाश होनेको व्यय कहते हैं और ज्योंके त्यों बने रहने को ध्रौव्य कहते हैं। जैसे कपास की जब रुई बनाते हैं तब कपास नष्ट हो जाता है और रुई उत्पन्न हो जाती है तथा कपास के जो परमाणु थे वे सब बिनोले को छोडकर ज्योंके त्यों बने रहते हैं। इसी प्रकार जब रुई का सूत

वनाते हैं तव रुई नष्ट होकर सूत उत्पन्न हो जाता है तथापि उस में रुईके सव परमाणु ज्योंके त्यो वने रहते हैं। जव सूत का वस्त्र वनता है तव भी सूत नष्ट हो जाता है वस्त्र उत्पन्न हो जाता है और उसके परमाणु ज्यों के त्यो वने रहते हैं। यदि उस वस्त्र को किसी भी काम मे नहीं लाया जाय तो भी वह कितने ही वर्षो मे जीर्ण शीर्ण होकर मिट्टी रूप परिणत हो जाता है। उस वस्त्रका वह जीर्ण शीर्ण होना किसी नियत काल के वाद नहीं होता किंतु प्रत्येक समय मे उस की कुछ न कुछ अवस्था वदलती रहती है। उस अवस्था का वदलना ही उत्पाद व्यय होना है। तथा वह पदार्थ ज्यो का त्यों वना रहता है। इसलिए प्रत्येक समय में उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीनों गुण प्रत्येक पदार्थ मे विद्यमान रहते है। इन तीनों गुणो मे से उत्पाद व्यय की अपेक्षा से समस्त पदार्थ अनित्य कहलाते हैं तथा ध्रौव्यगुण की अपेक्षा से नित्य कहलाते हैं। उत्पाद, व्यय होना व्यवहार दृष्टि है और ध्रौव्य गुण का होना परमार्थ वा द्रव्यार्थ दृष्टि है। इसीलिए ऊपर कहा गया है कि व्यवहारदृष्टि से समस्त पदार्थ अनित्य है और परमार्थदृष्टि से समस्त पदार्थ नित्य है। व्यवहार दृष्टिसे पदार्थोंका स्वरूप वदलता रहता है इसलिये वह स्वरूप यथार्थ नहीं कहला सकता इसीलिये मोक्ष प्राप्तिके उपायों में वह त्याज्य है और परमार्थ दृष्टिसे पदार्थोंका स्वरूप वदलता नहीं ज्यो का त्यों वना रहता है इसीलिये वह स्वरूप यथार्थ स्वरूप कहलाता है और इसीकारणसे वह ग्रहण करने योग्य माना जाता है। इस जीवकी मनुष्यादिक पर्याएं वदलती रहती हैं इसीलिये जीवोंका पर्यायरूप स्वरूप व्यवहार दृष्टि से कहलाता है तथा

अपायार्थ और त्याज्य कहलाता है । परन्तु आत्माका अनंतचतुष्टयरूप शुद्ध स्वरूप कभी बदलता नहीं इसीलिये आत्माका वह स्वरूप परमार्थ दृष्टिसे कहलाता है और यथार्थ होनेके कारण वह ग्रहण करने योग्य कहाजाता है । यही बात ऊपर आचार्य महाराजने लिखी है । जो जीव अपने आत्माका कल्याण करना चाहते हैं उनको अपने मनुष्यपर्याय वा मनुष्यशरीरसे मोह नहीं करना चाहिये इष्ट अनिष्ट समस्त पदार्थोंसे राग द्वेपका त्याग कर शुद्ध स्वरूपमें लीन होना चाहिये । यही मोक्ष प्राप्त करनेका यथार्थ उपाय है ॥ ३६-३७ ॥

आगे इंद्रियोंका स्वरूप बतलाते हैं ।

प्रश्न — **पंचेंद्रियाणि भो सन्ति कीदृशानि गुरो वद ?**

अर्थ-हे स्वामिन्! अब यह बतलाइये कि ये पांचो इंद्रियां कैसी हैं।

उत्तर-पिशाचतुल्यानि किलेन्द्रियाणि प्रतिक्षणं दुःखशतप्रदानि ।
क्षेप्तुं हि शक्तानि भवार्णवे वै संसारमूलानि दृढात्मकानि ॥३८॥
ज्ञात्वेन्द्रियोत्पन्नभवां स्वहानिं त्याज्यानि वा तद्विषयाणि तानि ।
अतींद्रियाण्येव शिवप्रदानि ग्राह्याणि भव्यैर्निजराज्यहेतोः ॥३९॥

अर्थ—ये पांचो इंद्रियां पिशाच के समान हैं क्षण क्षणमें सैकड़ो दुःख देनेवाली है । ये पांचो इंद्रियां इस जीव को संसाररूपी महासागर में परिभ्रमण कराने के लिए अकेली ही समर्थ हैं और जन्ममरणरूप संसार को बढाने के लिए अत्यंत दृढरूप संसार की जड़ है । इस प्रकार इन इंद्रियोंसे उत्पन्न होनेवाली अपने आत्मा की हानि को जानकर इन पांचों इंद्रियोंके विषयोंका त्याग कर देना चाहिये और अपने आत्मा की शुद्धतारूप मोक्षराज्य प्राप्त करने के लिए मोक्ष प्राप्त करानेवाले

आत्माके अतींद्रिय शुद्धस्वरूप को ग्रहण करना चाहिये यही भव्य जीवोंका कर्तव्य है ।

भावार्थ—यह जीव अनादिकाल से इन्द्रियो के वशीभूत होरहा है तथा इन इंद्रियोंके वशीभूत होने के कारण ही इस को नरकनिगोद के दु:ख भोगने पडते हैं। यदि दैवयोग से मनुष्यादिक की उत्तम पर्याय प्राप्त हो जाती है तो वहा भी इंद्रियोंके विषयोंकी वाञ्छाके कारण ही इस जीवको अनेक प्रकारके दु ख भोगने पडते हैं। इससे यह बात सहज रीति से समझ मे आजाती है कि यह जीव जो ससार मे परिभ्रमण करता हुआ अनेक दु ख भोग रहा है उसका मूलकारण इन इंद्रियोंका विषय सेवन है। यदि यह जीव इन नरकादिक के दुःखोंसे बचना चाहता है तो इसको इन इंद्रियोंके विषयोंके सेवनका अवश्य त्याग कर देना चाहिये और मोक्षके अनंतसुख प्राप्त करने के लिए इंद्रियोंके गोचर न होनेवाले आत्माके शुद्धस्वरूप का चितवन करते रहना चाहिए। इसी से मोक्षसुख की प्राप्ति हो सकती है॥ २८-२९॥

आगे संसारके परिभ्रमण का काल बतलाते हैं।

प्रश्न—**संसारे वसतः कालो व्यतीतो वद मे कियान् ?**

अर्थ—हे भगवन्! अब यह बतलाइये कि इस ससार मे निवास करते हुए मुझे कितना काल व्यतीत करना पडा है।

उत्तर—**संसारसिंधौ विषमव्यथादे विपत्प्रकीर्णे वसतो हि नित्यम्।**
कालो ह्यनन्तश्च गत. कुबोधात्ततो यदि त्वं स्वहित प्रकर्तुम् ॥४०
त्यक्तुं स्पृहां वाञ्छसि मोक्षमार्गे गन्तु प्रमाणं वचनं गुरो वै ।
तथा विभाव भवद विहाय कुरु स्वभावे स्थिरतां सुबोधात्॥४१॥

अर्थ—हे आत्मन् ! यह संसाररूपी समुद्र अनेक घोरदु.ख देनेवाला है और अनेक विपत्तियोंसे भरा हुआ है । इसमें अपने मिथ्याज्ञानके कारण परिभ्रमण करते हुए मुझे अनंतानत काल व्यतीत करना पडा है । इसलिए अब यदि तू अपने आत्मा का हित करना चाहता है, अपनी सासारिक इच्छाओंको दूर करना चाहता है और मोक्षमें जानेकी इच्छा करता है तो सबसे पहले गुरुके वचनोंको प्रमाण मानना और अपने सम्यग्ज्ञानके द्वारा ससारके महादु.ख देनेवाले विभाव भावोंका त्यागकर अपने स्वभावमे स्थिरता धारण करना चाहिये ।

भावार्थ—हे आत्मन् इस समय तेरे आत्मामें क्रोध, मान, माया. लोभ इन चारो कषायोकी सत्ता विद्यमान है । इन कषायोंका सत्ता अथवा इनका उदय पहले बंधे हुए मोहनीयकर्म के उदयसे होता है, तथा वह मोहनीयकर्म कषायोंके निमित्तसे ही बाधा जाता है और वे मोह- नीयको बाधनेवाली कषायें भी उससे पहले बधे हुए मोहनीयकर्मके उदयसे प्रगट होती हैं । इसप्रकार पीछेकी ओर परंपरा पूर्वक विचार करनेसे यह सिद्ध हो जाता है कि यह जीव अनादिकालसे इन कर्मोंसे तथा कषायोंसे बंधा हुआ है, अर्थात् अनादिकालसे यह जीव इस संसारमें परिभ्रमण करता चला आ रहा है । इसी कालको संक्षेपसे अनंतानंत काल कहते हैं, यदि तू इन कषायोको दूर नहीं करेगा तो आगे भी अनंतानंत कालतक इसी संसारमे परिभ्रमण करता रहेगा । इसलिये यदि तू अपने आत्माका कल्याण करना चाहता है वा मोक्ष प्राप्त करना चाहता है तो इन कषायोंका त्याग कर । ये कषाय ही विभावभाव हैं और ये ही संसारमें परिभ्रमण करानेवाले हैं । इसलिये

इनका त्याग कर अपने आत्माके शुद्ध स्वभावमे लीन हो तभी तुझे अनंतसुख देनेवाले मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। यही इसका अभिप्राय है, और ये ही गुरुके वचन है ॥ ४०।४१ ॥

आगे संसार के दुःखोसे दु.खी होने पर भी उनके आधीन रहने का कारण बतलाते हैं।

प्रश्न—**परैश्च पीडितो जीवस्तदाधीनो भवेत्कथम् ?**

अर्थ—हे भगवन् ! कुटुंबादिक के द्वारा दुःखी होनेपर भी यह जीव उनके ही आधीन क्यो रहता है ?

उत्तर—**कुटुंबवर्गैः परिपीडितोऽपि देवैर्मनुष्यैः पशुभिश्च भूतैः ।**
भीमे भवाब्धौ परिपातितेपि दुःखप्रदे प्राणहरे वनादौ ॥ ४२ ॥
तथापि तेषां खलु पृष्ठलग्ना जीवा भवन्तीह विभावबुद्धेः ।
ततः प्रभो त्वां विनयेन याचे विभावबुद्धिं हर मे कृपाब्धे ॥४३॥

अर्थ—देखो यह ससारी जीव अपने कुटुंबी लोगोंके द्वारा दुःखी किए जाते है देव, मनुष्य, पशु, भूत पिशाच आदि के द्वारा दुःखी किए जाते है तथा अनेक जीवोंके प्राण हरण करनेवाले और महा दु.ख देनेवाले निर्जन वनोंमे छोड दिए जाते है और महा भयंकर ऐसे संसाररूपी महासागर मे पटक दिए जाते है। तथापि ये ससारी जीव उन्हीं कुटुंबियोंके पीछे पीछे लगे रहते है तथा उन्हीं देव मनुष्यादिक के पीछे लगे रहते है और अनेक प्रकार से उनकी सेवा करते रहते है। यह सब उनकी विभावबुद्धि का कारण है। विभावरूप बुद्धि वा विपरीतबुद्धि होनेके कारण ही वे ऐसा करते हैं। इसलिए हे भगवन् !

हे कृपासागर ! आप मेरी इस विभावबुद्धि को दूर कीजिए यही मैं आपसे विनयपूर्वक प्रार्थना करता हूं ।

भावार्थ—इस संसारमे विभावबुद्धि वा विभावरूप परिणाम ही दुःख देनेवाले है, विभावरूप परिणामोंके होनेसे यह जीव अपने हित और अहितको भूलजाता है और विपरीत बुद्धिको धारण कर दुःख देनेवाले कामों में ही लग जाता है । यद्यपि कुटवी लोग सदाकाल इसे दुःख देते रहते है तथापि उनके लिये ही यह जीव अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करता रहता है । कुटम्बियो के लिये ही अनेक प्रकारकी हिंसा करता है अनेक प्रकार के झूठ बोलता है, चोरी करता है और अनेक प्रकार के परिग्रहोंका संचय करता है इन परिग्रहादिकका उपभोग तो सब कुटवी लोग करते है परन्तु उन पापोंके फलसे नरक निगोदमे उस जीवको अकेला ही जाना पडता है । यह सब समझते हुए भी यह संसारी जीव उस कुटबका त्याग नहीं कर सकता है यह मोहरूप परिणत हुई विभावरूप बुद्धिका ही परिणाम है । इस विभावरूप बुद्धिके दूर होनेसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है आत्मा अपने स्वरूपको पहिचानने लगता है और फिर सहज रीतिसे अपने आत्माका कल्याण कर लेता है ।

आगे शरीरसे मोह वा ममत्व न करनेका उपदेश देते है ।

प्रश्न—ममता क्व न कार्या भो गुरो मे वद साम्प्रतम् ॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपा कर यह बतलाइये कि हम लोगो को मोह वा ममता कहा नहीं करनी चाहिये ।

उत्तर—सप्तधातुमये काये बीभत्से च विरूपके ।
स्वर्गमोक्षरोधकेऽनित्ये मलमूत्रभृतेऽशुचौ ॥४४॥

जरातंकभयाकीर्णे रागद्वेषविवर्द्धके ।
न कार्या ममता भव्यैः स्वर्मोक्षसुखवाञ्छकैः ॥४५॥

अर्थ—यह शरीर रुधिर, मांस, हड्डी आदि सप्तधातुओंसे बना हुआ है और इसी लिये यह घृणित है कुरूपी है, स्वर्गमोक्ष के साधनोंको रोकनेवाला है, अनित्य है मलमूत्रसे भरा हुआ है, अपवित्र है, अनेकप्रकार के भय, बुढापा और मृत्युसे भरा हुआ है, और रागद्वेषको बढानेवाला है। इसप्रकार शरीरके वास्तविक स्वरूपका विचार कर स्वर्ग व मोक्षके सुखकी इच्छा करनेवाले भव्यजीवोंको इस ऐसे शरीरमें कभी ममत्व नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—ये संसारी प्राणी अपने शरीरसे अधिक ममत्व करते हैं परन्तु यह शरीर अवश्य नष्ट होनेवाला है, अत्यंत अपवित्र है, मल, मूत्र, कफ, रुधिर आदि घृणित पदार्थोंसे भरा हुआ है, तथा इस जीव को स्वर्गमोक्षके प्रयत्न करनेमें बाधक है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि स्वर्ग मोक्ष की इच्छा करनेवाले भव्यजीवोंको ऐसे शरीर में कभी ममत्व नहीं करना चाहिये। ममत्वका त्यागकर तपश्चरण करलेना चाहिये जिससे कि अनंतसुख देनेवाले मोक्ष की प्राप्ति हो। यही इस जीवके लिये कल्याणकारी है ॥४४–४५॥

आगे ममत्व कहां करना चाहिये सो बतलाते हैं।

प्रश्न—क्व ममत्वं प्रभो कार्यं वद मे शान्तिहेतवे।

अर्थ—हे प्रभो ! इस आत्माको शान्ति प्राप्त करनेके लिये ममत्व कहां कहां करना चाहिये।

उत्तर—श्रीदे स्वधर्मे गुरुदेवशास्त्रे कार्यं ममत्वं व्यवहारदृष्ट्या ॥
स्वानन्दसाम्राज्यपदे पवित्रे कार्यं ममत्वं परमार्थदृष्ट्या ॥ ४६ ॥

अर्थ—इस जीव को व्यवहार दृष्टिसे अन्तरंग बहिरंग लक्ष्मी को देनेवाले अहिंसामय आत्मधर्म में तथा देव, शास्त्र, गुरु मे ममत्व करना चाहिये और परमार्थदृष्टि से अत्यत पवित्र ऐसे अपने आत्मासे उत्पन्न होनेवाले अनतसुखरूपी साम्राज्य के स्थान में अर्थात् आत्मा की शुद्धावस्था मे ममत्व करना चाहिये।

भावार्थ—इस ससार में भगवान् अरहतदेव, भगवान् अरहंतदेव का कहा हुआ धर्म, भगवान् अरहतदेव का कहा हुआ शास्त्र और निर्ग्रंथ गुरु ये चार पदार्थ ही इस जीव को सुख देनेवाले हैं। ये ही चार पदार्थ मंगलरूप हैं और ये ही इस जीव को शरणभूत हैं। इस लिए इस ससारीजीव को इन्हींकी आराधना करनी चाहिये। इन्हींकी सेवा व पूजा करनी चाहिये और जिन कार्योंसे ये इस उत्तमपद को प्राप्त हुए हैं वे ही सब कार्य करने चाहिये। यही इनका ममत्व है। परतु परमार्थदृष्टि से जब आराधना करनेवाला भी इस उत्तम पद को प्राप्त करलेता है तब इनका ममत्व वा आराधना करना छूट जाता है और वह अपने शुद्ध आत्मा से उत्पन्न होनवाले अनतसुखमें लीन होजाता है। परमार्थदृष्टि से यही उसका ममत्व है। अथवा ममत्व का एक रूपक है ॥४६॥

आगे अभिमान करने का निषेध करते हैं।

प्रश्न—गर्वः कस्यैव कार्यो न कार्यो वा वद मे गुरो ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! इस संसार में किसका अभिमान करना चाहिये और किसका नहीं करना चाहिये ?

उत्तर—**कीर्तेश्च शक्तेर्धनयौवनादेः बुद्धेश्च भक्तेः प्रियबांधवादेः ।**
कुलस्य जातेर्वपुषो पदानां स्वप्नेपि गर्वो न कदापि कार्यः ॥
स्वात्मानुभूतेः शिवसौख्यदात्र्याः क्रमेण सम्पूर्णपदप्रदात्र्याः ।
क्षमाकृपाशान्तिदयादिकानां ममेति गर्वः सुतरां सुकार्यः॥४८॥

अर्थ—इस संसारमें कीर्ति, बल, धन, यौवन, बुद्धि, भक्ति भाई बंधु आदि कुटुंबीजन, कुल, जाति, शरीर और राजा महाराजा आदि पदोंका अभिमान स्वप्नमे भी कभी नहीं करना चाहिये। तथा मोक्ष सुखको देनेवाली और अनुक्रमसे इन्द्र चक्रवर्ती आदि महापदोंको देनेवाली अपने शुद्ध आत्मासे उत्पन्न होनेवाली अनुभूति तथा क्षमा, कृपा, शान्ति, दया आदि आत्माके धर्म मेरे ही हैं, अन्य किसीके नहीं है, मुझे इनका पालन पूर्ण रीतिसे करना चाहिये, इसप्रकारका स्वाभिमान अवश्य करना चाहिये।

भावार्थ—कीर्ति, बल, धन, यौवन, कुटुंब कुल जाति शरीर आदि जितने ससारिक सुख देनेवाले पदार्थ हैं, वे सब अनित्य हैं। अपने समयपर अवश्य नष्ट होनेवाले हैं। इसलिये इनका अभिमान करना व्यर्थ है। इनका अभिमान करनेसे इनमें मोह बढता है और मोह बढनेसे आत्मा संसारमें परिभ्रमण करता है। इसलिये इनका अभिमान कभी नहीं करना चाहिये। दया, क्षमा, शाति और स्वात्मानुभूति आत्माके गुण हैं, ये सब सदाकाल आत्माके साथ रहते हैं और आत्माका कल्याण करनेवाले हैं, इसलिये इनको अपना मानकर और

अच्छीतरह पालनकर इनको अपनानेका अभिमान करना चाहिए जिससे कि ये सब गुण आत्मामे अच्छी तरह प्रगट हो जायं ॥४७-४८॥

आगे भोगोपभोगोका स्वरूप बतलाते है ।

प्रश्न—भोगाश्चः कीदृशाः सन्ति वद मे मोहशांतये ?

अर्थ—हे भगवन् ! मेरा मोह शात करने के लिए इन भोगोपभोग के पदार्थोंका स्वरूप बतलाइये ।

उत्तर— भोगोपभोगवस्त्वाद्या शंपासमसुसचलाः ।
गजाश्वहर्म्यराज्याद्यास्तृणास्थितपयः समाः ॥४९॥

अर्थ—इस संसार में हाथी, घोडे, भवन, राज्य आदि भोगोपभोग के जितने पदार्थ है वे सब बिजलीके समान चचल है अथवा तृण के अग्रभाग पर ठहरी हुई जल की बूंद के समान अवश्य नाश होनेवाले है ।

भावार्थ—यह संसारी प्राणी भोगोपभोग के पदार्थोंके प्राप्त करने की, संग्रह करने की और उपभोग करने की लालसा सदाकाल किया करता है । तथा उनके प्राप्त करने और उपभोग करने के लिए अनेक प्रकार के पाप उत्पन्न कर नरकादिक के घोर दु.ख सहन किया करता है । परतु वे भोगोपभोग के समस्त पदार्थ विना पुण्यकर्म के उदय के कभी प्राप्त नहीं होते । यदि किसी पुण्यकर्म के उदय से प्राप्त भी हो जाय तो फिर उनका टिकना अत्यत कठिन है । क्यों कि वे बिजलीके समान क्षणभंगुर हैं. अवश्य नष्ट होते हैं । यही समझकर उनकी इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये उनका त्याग कर तथा ससारसे विरक्त

होकर तपश्चरण करना चाहिये जिससे अनंतसुख की प्राप्ति शीघ्र ही हो जाय ॥४९॥

आगे संसार का स्वरूप कहते हैं ।

प्रश्न—भवार्णवो गुरो लोके कीदृशोस्ति वदाधुना ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस लोकमें यह संसाररूपी समुद्र कैसा है ।

उत्तर-वियोगरोगदुःखेन समाकीर्णो भवार्णवः ।
आशाचिंतातरंगाश्च यत्र सन्ति प्रतिक्षणम् ॥ ५० ॥
तत्रासाम्येन मूढाश्च मत्ता इव भ्रमन्ति वै ।
ज्ञात्वेति लक्षणं तस्य यतन्तां शोपणाय च ॥ ५१ ॥

अर्थ--इस संसारमें अनेक प्रकार के रोगोंके दुःख प्राप्त होते रहते हैं और अनेक प्रकार के इष्टवियोग वा अनिष्टसंयोग के दुःख प्राप्त होते हैं । यह संसाररूपी महासागर इन अनेक प्रकार के दुःखों से सदाकाल भरपूर रहता है । तथा आशा और चिंतारूपी लहरें क्षण क्षणमें लहराती रहती हैं । ऐसे इस संसाररूपी समुद्र में ये संसारी अज्ञानी जीव समतारूपी परिणामोंको धारण न करने के कारण मदोन्मत्त होकर परिभ्रमण किया करता है । इस प्रकार इसका लक्षण समझकर इस संसाररूपी समुद्र को सोखने का प्रयत्न करना चाहिये ।

भावार्थ--इस संसार में रोग, शोक, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदि के अनेक दुःख भरे हुए हैं । तथापि समता धारण करने से वे सब दुःख नष्ट हो जाते हैं क्यों कि जितने दुःख हैं वे सब रागद्वेष के कारण होते हैं । यदि किसी भी पदार्थ से राग वा द्वेप नहीं किया

जाय इष्ट वा अनिष्ट समस्त पदार्थोंको समान रीति से देखा जाय तो इस जीव को कभी दुःख हो ही नहीं सकता। इसलिए इस जीवको समता धारण कर इस दु.खमय ससार को सोख लेना चाहिये। और आत्मजन्य अनतसुख की प्राप्ति करलेनी चाहिये ॥५०-५१॥

आगे परिग्रहका स्वरूप वतलाते हैं ।

प्रश्न—**कीदृशो विधते संगः चिन्हं वा तस्य कीदृशम् ।**

अर्थ-हे स्वामिन्! यह परिग्रह कैसा है और इसका चिन्ह क्या है।

उत्तर—**अन्तर्बहिर्भेदकृताद्द्विभेदः कषायरूपे धनधान्यरूपः ।**
ममत्वचिन्हो नरकप्रदो वै संसारहेतुः कलहस्य केतुः ॥५२॥
ज्ञात्वेति सगस्य स्वरूपमीदृक् त्यक्त्वा ममत्वं धनधान्यकादिम् ।
निःस्संगरूपं सुखदं पवित्रं ध्यायन्तु शुद्धं च निजात्मरूपम् ॥५३॥

अर्थ— अंतरंग और वहिरगके भेदसे इस परिग्रहके दो भेद हैं अंतरंग परिग्रह कषाय रूप है और वहिरंग परिग्रह धनधान्यरूप है। ममत्व इससा चिन्ह है। यह परिग्रह नरकको देनेवाला है, ससारका कारण है और कलह उत्पन्न करनेके लिये केतुके समान है। इसप्रकार इस परिग्रहका स्वरूप समझकर ममत्व और धन्यधान्य आदि सवका त्याग कर देना चाहिये और समस्त परिग्रहोंसे रहित तथा सुख देनेवाला और पवित्र ऐसे अपने शुद्ध आत्माका ध्यान करना चाहिये।

भावार्थ—स्त्री पुत्र धन धान्य आदिमें जो मोह है, यह मेरा है और मैं इसका हूं इसप्रकारके जो परिणाम हैं उसको परिग्रह कहते हैं। मोह वा ममत्व परिणामोंके होनेसे ही धन धान्यादिकका सग्रह होता है। इसीलिये बाह्य परिग्रह मे अतरंग परिग्रह कारण माना जाता है। विना अतरग परि-

ग्रह के बाह्य परिग्रह का संग्रह कभी नहीं हो सकता । यदि बाह्य परिग्रह का सर्वथा अभाव है और वह इच्छापूर्वक परिग्रह का त्याग करने से हुआ है तो कहना चाहिये कि उसके अंतरंग परिग्रह का भी अवश्य अभाव है। अतएव इस जीवको सब से पहले अंतरंग परिग्रहों का त्याग करना चाहिये । अंतरग परिग्रहोंका त्याग होजाने से बाह्य परिग्रहका त्याग अवश्य होजाता है। इस प्रकार अतरंग परिग्रह का त्याग कर इस जीवको अपने आत्म के शुद्धस्वरूप का चिंतवन करते रहना चाहिये । जिससे कि शीघ्र ही अनतसुख की प्राप्ति हो जाय ॥५२-५३॥

आगे करने और न करने योग्य बातचीतका स्वरूप बतलाते है।

प्रश्न—का वार्ता गुरो कार्या का त्याज्या वद मेऽधुना ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि कौनसी बात करनी चाहिये कि और किस बातचीत का त्याग कर देना चाहिये ।

उत्तर-त्याज्या मिथः क्षोभकरा ह्ययोग्या पापप्रदा लौकिकलोकवार्ता
कचित्तथाकार्यवशाद्धि कार्या विद्युत्समा किल्विषपुण्यवार्ता ।५४।
कार्या सदाऽलौकिकलोकवार्ता शांतिप्रदा भ्रांतिहरा क्षमादा।
यतः सदा स्वात्मनि चैव चात्मा कुर्यात्स्थितिं स्वात्मरसे सुतृप्तिम्५५

अर्थ—जो लौकिक बातचीत परस्पर क्षोभ उत्पन्न करनेवाली हो, अयोग्य हो और पाप उपन्न करनेवाली हो ऐसी लौकिक बातचीत कभी नहीं करनी चाहिये। यदि किसी कामके निमित्तसे कोई लौकिक बातचीत करनी ही पडे तो पाप पुण्यकी बातचीत बिजलीकी चमकके समान

थोडी देरतक ही करनी चाहिये और उसमें भी पुण्यको बढाने और पापके त्यागका हेतु रखना चाहिये । जो बातचीत अपने आत्मामें तल्लीन रहनेवाले सिद्ध परमेष्ठी आदिके स्वरूप की अलौकिक बातचीत है जो कि सदा काल शान्ति उत्पन्न करनेवाली है, सब प्रकारकी भ्रान्ति को दूर करनेवाली है और क्षमा आदि गुणोंको प्रगट करनेवाली है ऐसी अलौकिक बातचीत सदा करते रहना चाहिये जिससे कि यह आत्मा अपने ही आत्मामें सदा काल स्थिर बना रहे और अपने चिदानन्दमय आत्मरसमें तृप्त बना रहे ।

भावार्थ—जिन कथाओंसे काम विकारकी वृद्धि होती हो या परस्पर क्षोभ उत्पन्न होता हो या कलह उत्पन्न होती हो, ऐसी पाप उत्पन्न करनेवाली कथाएं कभी नहीं कहनी चाहिये । यदि किसी न किसी कथाके कहे बिना काम न चलता हो तो पुराणोंके समान पुण्य पापके फल दिखलानेवाली कथाएं कहनी चाहिये । जिसप्रकार पुराणोंमें पापोंके त्याग करानेका अभिप्राय रहता है और पुण्य कार्योंके बढानेका अभिप्राय रहता है, उसी प्रकार उन कथाओं के कहनेका अभिप्राय रखना चाहिये । साधारण बातचीत में भी यही अभिप्राय रखना चाहिये । सबसे उत्तम उपाय तो यही है कि सब तरहकी बातचीतका त्याग कर पंचपरमेष्ठी के स्वरूप का चिंतवन करना चाहिये, उन्हीं के गुणोंका वर्णन करना चाहिये और उन्हींके गुणोंमें लीन होजाना चाहिये । ऐसा करने से ही इस आत्मा को अपने आत्मा की शुद्धता प्राप्त होगी और शुद्धता प्राप्त होनेसे यह आत्मा उसीमें स्थिर और तृप्त होकर अनंत सुखी हो जायगा ॥५७-१५॥

आगे स्वात्मसिद्धि के लिए कर्तव्य बतलाते हैं।

प्रश्न—स्वात्मसिध्यै च कर्तव्यं किं क वा वद मे प्रभो !

अर्थ—हे भगवन् ! इस जीव को अपने आत्माकी शुद्धता प्राप्त करने के लिए कहा क्या करना चाहिये।

उत्तर-तत्त्वं ह्यतत्त्वं ह्यकृतिं कृतिं वा ज्ञात्वा यथावत्स्वपरात्मरूपम्
ग्रामे ह्यरण्ये भवने वने वा स्थित्वा सदा स्वस्थगृहे श्मशाने।५६।
दृग्बोधचारित्रमयस्य चैवात्मनो निजानन्दसुखस्य चर्चाम् ।
तानं हि गान मननं विचारं ध्यानं करोतु स्वपदप्रसिध्यै ॥५७॥

अर्थ—इस जीवको अपने आत्माकी शुद्ध अवस्था प्रगट करने के सबसे पहले तत्त्व अतत्वो का विचार करना चाहिए। कर्तव्य अकर्तव्य का विचार करना चाहिए और अपने आत्माका तथा पुद्गलादि पर पदार्थोंके पदार्थ–स्वरूप का विचार करना चाहिए। इन सब का विचार कर किसी भी गांवमें, वन में, महलमें, किसी नीरोग घरमें वा श्मशान मे स्थिर होकर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मय अपने आत्मासे उत्पन्न हुए अनंत सुख की चर्चा करनी चाहिए उसीका अनुभव करना चाहिए उसीका विचार करना चाहिए। उसीका गायन करना चाहिये। उसीकी रट लगानी चाहिये और उसीका ध्यान करना चाहिये।

भावार्थ—सबसे पहले तत्त्व और अतत्त्वोका विचार करना चाहिये कौनसे तत्त्व यथार्थ है और कौनसे तत्त्व अयथार्थ हैं। उनमेंसे यथार्थ तत्वोंको पहिचान कर उन्हीका मनन विचार वा श्रद्धान करना चाहिये। जो तत्त्व यथार्थ नहीं है वा जिनका स्वरूप यथार्थ नहीं है उनका

सर्वथा त्याग करदेना चाहिये । इसी प्रकार कर्तव्य अकर्तव्यका विचार कर अकर्तव्य कार्योंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये और कर्तव्य कार्योंमे दत्तचित्त होजाना चाहिये। यह ध्यान रखना चाहिये कि आत्मा के कल्याण करनेवाले कार्य ही कर्तव्य कार्य हैं। जिन कार्योंमे अशुभ कर्मोंका बध होता है ऐसे कार्य सदा अकर्तव्य कहलाते हैं। इसीप्रकार उत्तम क्षमा आदि धर्म वा रत्नत्रयरूप धर्म ही अपने आत्माके गुण है और शरीरादिक वा कुटबादिक सब परपदार्थ हैं, यही समझकर पर पदार्थोंका त्याग करदेना चाहिये, अपने तत्त्वोंको अपनाना चाहिये। इन सब बातो में पूर्ण अभ्यास करके फिर चिदानन्दमय शुद्धस्वरूप अपने आत्माका विचार मनन वा ध्यान करना चाहिये और यह भी किसी वन में वा श्मशानभूमि में वा अन्य किसी एकात स्थानमे बैठकर करना चाहिए। विना एकात स्थानके और विना मनको स्थिर किए शुद्ध आत्माका विचार वा ध्यान कभी नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा का शुद्ध-स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म है। यह सक्षेप में आत्मा का कर्तव्य बतलाया है ॥ ५६-५७ ॥

आगे आत्माका स्वरूप दिखलाने का उपाय बतलाते हैं।

प्रश्न—**स्वात्मरूप कथं स्वामिन् वद मे प्रविलोक्यते ।**

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस आत्माका स्वरूप किस प्रकार देखा जाता है।

उत्तर—**वाक्कायचित्तेन तथा परेण स्वात्मस्वरूपं पररूपभिन्नम् ।**
कल्पान्तकालेपि गते सहस्रे न बुध्यते नैव विलोक्यते च ॥
ज्ञात्वेति बाह्य करणक्रियादि त्यक्त्वा सदा स्वात्मनि शुद्धबुद्धे ।

दृश्यः स्वसंवेदनधर्मतो हि वंद्यो निजात्मा वसति स्वपार्श्वे ॥५९॥

अर्थ—शरीर वा पुद्गलादिक समस्त द्रव्योंसे भिन्न यह अपने आत्माका स्वरूप सहस्त्रों कल्पकाल व्यतीत होने पर भी मन, वचन, काय से वा अन्य किसी बाह्य साधन से न जाना जा सकता है और न देखा जा सकता है। इस बात को अच्छी तरह समझकर इंद्रियोंके बाह्य व्यापार को सर्वथा छोड देना चाहिए और अपने ज्ञानस्वरूप शुद्ध आत्मामें अपने स्वसंवेदन धर्मके द्वारा अपने आत्माका स्वरूप देखना वा जानना चाहिए। क्यों कि यह शुद्ध बुद्ध वंदनीय अपना आत्मा अपने ही समीप है और वह स्वसंवेदनसे ही जाना जाता है वा दिखाई देता है।

भावार्थ—यह आत्मा अमूर्त है। यद्यपि अनादि काल से कर्मोंके बंधन से बधा हुआ है तथापि उन कर्म वर्गणाओंका समूह अत्यंत सूक्ष्म होनेसे वंधन बद्ध होनेपर भी किसी भी इंद्रिय से दिखलाई नहीं पडता है। फिर भला शुद्ध बुद्ध अमूर्त आत्मा बाह्य इंद्रियोंसे कैसे दिखलाई पड सकता है अर्थात् कभी दिखलाई नहीं पड सकता। वह शुद्ध आत्मा तो केवल स्वानुभव से ही जाना जाता है। मैं ज्ञानी हूं, अनंत सुखरूप हूं, शरीर वा पुद्गलादिक सब पदार्थ मुझसे सर्वथा भिन्न है, इस प्रकार के स्वानुभव से ही आत्माका ज्ञान होता है। अथवा मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से अथवा उपशम वा क्षयसे जो आत्मा मे एक प्रकार का प्रकाश प्रगट होता है, उस प्रकाश से आत्मा के स्वरूप का भास होता है और वह भी स्वसंवेदन से ही होता है। इसलिए स्वसंवेदन प्राप्त करने का उपाय करना चाहिए। इसीसे आत्माका कल्याण हो सकता है ॥ ५८-५९ ॥

आगे मोक्ष का मार्ग बतलाते है।

प्रश्न—को धर्मः कीदृशो मार्गो मोक्षस्य त्वद मेऽधुना ?

अर्थ—हे स्वामिन्! कृपाकर अब यह बतलाइये कि धर्म क्या है और मोक्ष का मार्ग क्या है ?

उत्तर-दृग्बोधचारित्रमयोऽस्ति धर्मो ग्राह्यः स एवास्ति यथार्थदृष्ट्या।
स्याद्वादशुद्धो नयमार्गसिद्धो मोक्षस्य मार्गोपि स एव योग्य' ॥६०
पूर्वोक्तधर्मस्थितिवृद्धिहेतोस्तद्बाह्यधर्मादि विमोचनार्थम्।
ज्ञात्वेति भव्यो यततां भवेत्त यतः स्वसिद्धिः परिणामशुद्धिः।६१

अर्थ—इस संसारमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप ही धर्म है और यथार्थदृष्टि से वही ग्रहण करने योग्य है। तथा स्याद्वादसिद्धात से अत्यंत शुद्ध और प्रमाण वा नयसे सिद्ध ऐसा मोक्ष का योग्य मार्ग भी वही धर्म है। यही सब समझकर भव्यजीवोंको उस रत्नत्रयमय धर्म को स्थिर करने के लिए तथा उसकी वृद्धि करने के लिए और उससे भिन्न अन्य अनेक धर्मोका त्याग करने के लिए ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे परिणामोमे शुद्धता प्राप्त हो जाय और अपने आत्माकी सिद्धि हो जाय अर्थात् अपने आत्माको मोक्ष की प्राप्ति हो जाय।

भावार्थ—जो पदार्थ स्याद्वाद सिद्धात से निश्चित किए जाते है वा प्रमाण नयसे सिद्ध किए जाते है वे कभी मिथ्या नहीं हो सकते। इसीलिए आचार्योने रत्नत्रय को ही यथार्थ धर्म और मोक्ष का निश्चित मार्ग बतलाया है। जहा रत्नत्रय की पूर्णता होती है वहींपर मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए यह रत्नत्रय मोक्षकी प्राप्ति का यथार्थ

कारण माना जाता है। तथा उस रत्नत्रय की प्राप्ति परिणामों को शुद्ध रखने से होती है। जबतक परिणामोंमें संक्लेश परिणाम रहते हैं तबतक रत्नत्रय की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती इसलिए हे! भव्य तू अपने सक्लेश परिणामोको हटाने का प्रयत्न कर और अपने परिणामोंको शुद्ध रखनेका प्रयत्न कर। परिणामोको शुद्ध रखने से ही तुझे रत्नत्रय की प्राप्ति होगी और उस रत्नत्रय से मोक्षकी प्राप्ति होगी। यही आचार्योंका उपदेश है ॥ ६०-६१ ॥

आगे कैसा साधु वंदनीय है। और कैसा गृहस्थ प्रशंसनीय है यही बतलाते हैं।

प्रश्न—साधुश्च कीदृशो वंद्यः शस्यते वा कथं गृही ?

अर्थ—हे भगवन्! कैसा साधु वंदना करने योग्य है और कैसा गृहस्थ प्रशंसा करने योग्य है।

उत्तर-स्वानन्दसाम्राज्यसुखे सुतृप्तः शुद्धे स्थितो यः स्वचतुष्टये हि।
स एव साधुः सततं प्रपूज्यः वैराग्ययुक्तः शिवमार्गलीनः ॥६२
पूर्वोक्तचिन्हेन विवर्जितो य. स साधुरेवापि भवेदसाधुः ।
तत्प्राप्तिहेतोर्यतते सदा य प्रशंसनीयोपि गृही स लोके ॥ ६३ ॥

अर्थ—जो साधु अपने आत्मजन्य अनंत सुख रूपी साम्राज्य के सुखमें सदा तृप्त रहते हैं और जो अपने अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य रूपी शुद्ध अमत चतुष्टयमें सदा स्थिर रहते हैं तथा जो परमोत्कृष्ट वैराग्यसे सुशोभित हैं और मोक्षके मार्गमें वा रत्नत्रयस्वरूप धर्ममें सदा लीन रहते हैं ऐसे ही साधु इस संसारमें सदा पूज्य और वंदनीय माने जाते है.। जो साधु साधु होकर भी

सर्वोत्कृष्ट वैराग्य परिणामोंको धारण न करता हो, मोक्षके मार्गरूप रत्न-त्रयको धारण न करता हो तथा जिसे आत्माके अनत सुखसे सतोष न होता हो और जो अनत चतुष्टयका आराधन न करता हो वह साधु होकर भी असाधु ही कहलाता है। इसीप्रकार जो गृहस्थ सर्वोत्कृष्ट साधु होनेके सदा प्रयत्न करता रहता है वही गृहस्थ इस ससारमें प्रशंसनीय माना जाता है।

भावार्थ——मोक्षका मार्ग मुनिधर्म है, क्यो कि रत्नत्रयकी प्राप्ति वा पूर्णता मुनिधर्म में ही होती है। इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषको मुनिधर्म ही धारण करना चाहिये। यही सर्वोत्कृष्ट और उत्सर्ग मार्ग है। परंतु जो पुरुष मुनिधर्मको धारण करनेकी शक्ति नहीं रखता हो, वह पुरुष अपनी अशक्तताके कारण गृहस्थधर्म को धारण करता है। गृहस्थधर्म में भी रत्नत्रय की आराधना होती है परंतु एकदेश होती है। गृहस्थधर्म में उसकी पूर्णता कभी नहीं हो सकती। इसलिए जो गृहस्थ मोक्षप्राप्ति के लिए गृहस्थधर्म को अपूर्ण समझकर मुनिधर्म को धारण करने का प्रयत्न करता रहता है वही गृहस्थ वास्तव मे गृहस्थधर्म को पालन कर सकता है। वही गृहस्थ भक्तिपूर्वक देवपूजा कर सकता है और भक्तिपूर्वक पात्रदान दे सकता है। इसीलिए वह प्रशसनीय वा उत्तमगृहस्थ कहलाता है। तथा जब वह गृहस्थ समय मिलने पर समस्त परिग्रह का त्याग कर निर्ग्रंथ साधु हो जाता है और अपने अनंतचतुष्टयरूप शुद्ध आत्मा में लीन होकर समस्त बाह्य विकारोंका त्याग कर देता है, समस्त कषायोंका त्याग कर देता है और शरीर से ममत्व छोडकर आत्मजन्य

अतींद्रिय सुख में तृप्त हो जाता है तब साधु सब के द्वारा पूज्य और वंदनीय हो जाता है। इसलिए इस गृहस्थ को उत्तम साधु होने के लिए सदा प्रयत्न करते रहना चाहिए ॥ ६२-६३ ॥

आगे मोहकर्म और भव्य जीव के कर्तव्य बतलाते हैं।

प्रश्न—करोति मोहराजः किं वा भव्यो वद मे गुरो ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! इस संसार में समस्त कर्मोंका राजा मोहराज तो क्या करता है और भव्य जीव क्या करता है ?।

उत्तर-सद्दृष्टिजीवस्य निजाश्रितस्य विनाशनार्थं खलु मोहराजः।
व्यथाकरैर्हर्षविषादसार्थैः दुष्टैः कुसंकल्पविकल्पसैन्यैः ॥ ६४ ॥
भयंकरैः क्रोधपिशाचवर्गैः सदैव दुष्टो यतते यथेष्टम् ।
तथापि भव्यः समशांतिशस्त्रैः हत्वा शिवं मोहनृपं प्रयाति ॥६५॥

अर्थ—यह मोह या मोहनीय कर्म समस्त कर्मोंका राजा है और अत्यंत दुष्ट है। इसके पास भयंकर क्रोध रूपी अनेक पिशाचोंकी सेना है, अनेक प्रकारके दुष्ट संकल्प विकल्पोंकी सेना है और सबको दुःख देनेवाले हर्ष विषाद की सेना है। यह मोहराजा इस अपनी समस्त सेनाको साथ लेकर केवल अपने आत्माके आश्रित रहनेवाले सम्यग्दृष्टी जीवका नाश करनेके लिये उसको अपने वशमें करनेके लिये अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर प्रयत्न किया करता है। परंतु यह भव्य फिर भी अपनी समता और शान्ति रूपी शस्त्रोंके द्वारा उस मोहरूपी राजाको मारकर मोक्षमें जा विराजमान होता है।

भावार्थ—इस संसारमें जितने प्राणी हैं वे सब इस मोहके वशीभूत हैं तथा इस मोहके वशीभूत होनेके कारण ही नरकादिकके

दुःख भोग रहे हैं। क्यों कि इस मोहके ही कारण इन जीवों के कषायें प्रगट होती हैं, मोहके ही कारण हर्ष विषाद होता है और मोहके ही कारण अशुभ सकल्प विकल्प होते हैं। तथा इन्हीं कषायोंसे, हर्ष विषादसे वा दुष्ट सकल्प विकल्पोंसे यह जीव हिंसादिक पाप उत्पन्न करता रहता है और नरक निगोदके दुःख भोगता रहता है। परंतु आत्माके स्वरूपको जाननेवाला भव्य जीव इस मोहके समस्त कृत्योंको समझता है और इसीलिये वह इस मोहके बहकावेमें न आकर इन क्रोधादिक कषायोंसे, हर्षविषादसे वा अशुभ सकल्प विकल्पोंसे सदा बचता रहता है। यह भव्य जीव इनसे बचकर ही संतुष्ट नहीं होता किंतु अपने समता परिणामोंसे और शुद्धात्मजन्य परम शाति से इस मोह राजा सर्वथा नाश कर मोक्ष महलमें जा विराजमान होता है। उस मोक्ष महलमे मोह राजा का कुछ वश नहीं चलता। इसलिए वह भव्य जीव फिर वहापर अनंतकाल तक अनतसुख का अनुभव किया करता है। इसलिए भव्य जीवोंको कषायोंका सर्वथा त्याग कर दुष्ट संकल्पविकल्पोंका त्याग कर और हर्षविषाद का त्याग कर समतारूप परिणाम धारण करना चाहिए तथा परमशाति धारण करना चाहिए जिससे शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाय ॥ ६४-६५ ॥

आगे प्रातःकाल करने योग्य और चिंतवन करनेयोग्य वस्तु बतलाते हैं।

प्रश्न—प्रातरुत्थाय किं कार्यं किं चिन्त्य वस्तु मे वद।

अर्थ—हे स्वामिन्! अब यह बतलाइये कि प्रात.काल. उठकर क्या करना चाहिए और किस पदार्थ का चिंतवन करना चाहिए।

उत्तर—प्रातश्च भक्त्या गुरुदेवशास्त्रमुत्थाय नत्वा हृदि चिंतनीयम्
त्यक्त्वा प्रमादं वरवस्तुरूप स्थित्वा प्रदेशे विजने विशुद्धे ॥६६॥
कुत्रागतोऽहं गमनीयमस्ति कुतस्तथा किं करणीयमस्ति ।
ईदृग्विचारेण सुखप्रदेन वैराग्यवृद्धिश्च भवेत्स्वसिद्धिः ॥ ६७ ॥

अर्थ—इस ससारमे सबसे उत्तम पदार्थ भगवान् अरहतदेव हैं, उनके कहे हुए शास्त्र हैं और निर्ग्रंथ गुरु हैं। इसलिए प्रत्येक भव्य-जीवको प्रात काल उठकर उनको नमस्कार करना चाहिये और किसी शुद्ध निर्जन स्थानमे बैठकर तथा सब प्रकारके प्रमाद और आलस्यको त्यागकर अपने हृदयमे उनका चिन्तवन करना चाहिये। इसके सिवाय प्रत्येक भव्यजीवको प्रातःकाल उठकर चिन्तवन करना चाहिये कि मै कहासे आया हूं और कहा मुझे जाना है। तथा अब इससमय क्या क्या कार्य करना है। इस प्रकारका विचार करनेसे सुख और शान्ति प्राप्त होती है, वैराग्यरूप परिणामोकी वृद्धि होती है और अपने आत्मकी सिद्धि होती है।

भावार्थ—प्रात:काल उठकर मागलिक पदार्थोका दर्शन करना चाहिये। ससारभरमे देव, शास्त्र, गुरु ही सर्वोत्तम मगलपदार्थ है और सर्वोत्तम शरणभूत है। इसलिए प्रत्येक भव्य जीवको प्रातःकाल उठकर सबसे पहले इनको नमस्कार करना चाहिये और इनका दर्शन पूजन आदि करना चाहिये तथा उसी समय किसी शुद्ध एकात स्थानमें बैठकर इनके गुणोंका चिन्तवन करना चाहिये। इसके सिवाय अपनी पहलेकी गतियोंका चिंतवन करना चाहिये और अब मैंने क्या क्या पापपुण्य उपार्जन किया है और उससे मुझे कौनसी गति प्राप्त हो

सकती है यह भी चिंतवन करना चाहिये। इन सबका चिंतवनकर फिर अपने कर्तव्यका चिंतवन करना चाहिये। ससारका त्याग और मोक्ष या मोक्षके साधनोंकी प्राप्ति करनेका ही इस भव्यजीवका कर्तव्य है। यदि यह भव्यजीव प्रतिदिन ऐसा विचार करे तो इसे वैराग्यकी प्राप्ति हो सकती है। प्राप्त हुए वैराग्यकी वृद्धि हो सकती है और अंतमे मोक्षरूप आत्माकी सिद्धि हो सकती है ॥ ६६-६७ ॥

आगे श्रेष्ठ गुरुओंके प्रसाद से ही जीवोंको ज्ञान की प्राप्ति होती है यह बात बतलाते हैं ॥ ६६ - ६७ ॥

प्रश्न—**सद्गुरो कृपया किं किं भव्यो को लभते वद।**

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपा कर बतलाइये कि श्रेष्ठ गुरुओंकी कृपासे किस किस वस्तुकी प्राप्ति होती है?

उत्तर—**कृपाप्रसादाद्भुवि सद्गुरोश्च विज्ञानचक्षुः प्रकटीभवेद्धि।**
तेनैव विज्ञानविलोचनेन पलायतेऽज्ञानतमःप्रपचः ॥ ६८ ॥
सूर्योदयादिव तमो यथा हि ज्ञात्वेति कार्यो गुरुसंग एव।
निश्चीयते वेति ततस्त्रिलोके न भांति लोका गुरुबोधशून्याः॥६९

अर्थ—इस ससारमे श्रेष्ठ गुरुओकी कृपाके प्रसादसे इन ससारी जीवोंके ज्ञानरूपीनेत्र प्रगट हो जाते हैं तथा जिस प्रकार सूर्यके उदय होने से अधकार सब नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार उस ज्ञानरूपी नेत्र के द्वारा अज्ञानरूपी अधकारका समूह सब नष्ट होजाता है। यही समझकर गुरुओका समागम सदाकाल करते रहना चाहिए। क्यो कि तीनो लोकोमे यह बात निश्चित है कि गुरुओंके द्वारा प्राप्त हुए ज्ञानके विना ये संसारी जीव कभी शोभायमान नही होते।

भावार्थ—कभी २ अपने आप पढकर भी विद्या आजाती है परंतु ऐसी विद्या संदेहयुक्त बनी रहती है। लिखा भी है "संदिग्धहि परिज्ञान गुरुप्रत्ययवर्जितम्" अर्थात् जो ज्ञान विना गुरुके प्राप्त किया जाता है उसमें कितने ही प्रकारके संदेह बने रहते हैं। अध्यात्मविद्या तो विना निर्ग्रंथ गुरुओंकी सेवा किये कभी आही नहीं सकती। इसलिए अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करनेके लिए और आत्मज्ञानरूपी नेत्र प्रगट करनेके लिए गुरुओंकी सेवा करना परमावश्यक है। जो लोग गुरुओंकी सेवा नहीं करते अथवा अपने गुरुओंको नहीं मानते वे गुरुमार कहलाते हैं और इसीलिए न तो वे इस संसारमें शोभा पाते हैं और न उनकी विद्या पूर्णरूपसे विकसित होती है। विकसित न होनेसे वह विद्या पूर्णरूपसे अपने कार्य को भी नहीं कर सकती। इसलिए गुरुओंकी सेवा करना गुरुओंको मानना, उनका समागम करना आदि कार्य प्रत्येक जीवको आत्मकल्याण करनेकेलिए परमावश्यक है ॥ ६८-६९ ॥

आगे विरक्त पुरुषोंके भाव बतलाते हैं।

प्रश्न—विरागिणां नराणां भो भावा भवन्ति कीदृशः ॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! वैराग्यको धारण करनेवाले पुरुषोंके भाव कैसे होते हैं।

उत्तर—मुन्यायलब्धेऽपि धने गृहादौ सुपुण्यलब्धे पितृपुत्रमित्रे।
क्षेमंकरे वांछितदेऽपि यस्य प्रीतिः कलत्रे न गजाश्वराज्ये ॥७०॥
किं तस्य निंद्ये च परे पदार्थे पुत्रे कलत्रे धनराज्यहर्म्ये।
प्रीतिः कदाचिद्भवतीह लोके वैराग्यभाजां महिमा ह्यपारः ॥७१॥

अर्थ—जिन पुरुषोंको वैराग्य प्राप्त होगया है उन पुरुषोंको धन

घर आदि न्यायपूर्वक भी प्राप्त हुए हो और पुण्यकर्मके उदयसे प्रियपुत्र, मित्र, स्त्री, हाथी, घोडे, राज्य आदि बहुतसी विभूति प्राप्त हुई हो और वह सब विभूति इच्छानुसार फल देनेवाली और सुख करनेवाली हो तथापि उन सब में उनको कभी प्रेम उत्पन्न नहीं होता है। फिर भला निंदनीय और दुःख देनेवाले पुत्र, स्त्री, धन, राज्य, भवन आदि परपदार्थोंमें प्रेम कैसे उत्पन्न हो सकता है अर्थात् परपदार्थोंमें कभी प्रेम उत्पन्न नहीं हो सकता। इस संसारमें विरक्त पुरुषोंकी महिमा तो अपार है।

भावार्थ—वास्तवमें वैराग्य वही कहलाता है जिसके उत्पन्न होनेपर सुख देनेवाले पदार्थोंमें भी कभी राग या प्रेम उत्पन्न न हो। यहांतक कि विरक्त पुरुष अपने शरीरसे भी किसी प्रकार का मोह या ममत्व नही करते फिर भला वे पुत्र, स्त्री आदि सर्वथा परपदार्थोंमें राग वा प्रेम कैसे कर सकते है अर्थात् कभी नहीं करते। इसी प्रकार वे विरक्त पुरुष दुःख देनेवाले किसी शत्रुसे या अन्य किसी अनिष्ट पदार्थसे कभी द्वेष भी नहीं करते है। रागद्वेष दोनोंका त्याग कर वे विरक्तपुरुष सदाकाल समताभाव धारण करते है। समताभाव धारण करनेसे उनके मनमें किसी प्रकारका विकारभाव उत्पन्न नही होता और विकार न होने से मनमें शुद्धता प्राप्त होती है। मन शुद्ध होने से कर्मबंध का अभाव हो जाता है तथा सत्ता में विद्यमान कर्मों का नाश होता रहता है। इस प्रकार सब कर्मोका नाश होनेपर उस विरक्त पुरुषको शीघ्र ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिए रागद्वेषका त्यागकर समता भावोंको धारण करना प्रत्येक भव्यजीवका कर्तव्य है।

आगे वैराग्य से क्या क्या प्राप्त होता है सो कहते हैं ।

प्रश्न—विनयेनैव वैराग्य स्याद्वा चान्यद् गुरो वद ॥

अर्थ—हे भगवन् अब कृपा कर बतलाइये कि इस ससार मे विनय करने से वैराग्य ही प्राप्त होता है या और भी कुछ प्राप्त होता है।

उत्तर—**सर्वार्थसिद्धिं परिणामशुद्धिं**
स्वात्मानुभूतिं सुखशांतिदात्रीम् ।
वैराग्यबोधं यतिधर्मसारं स्वानदकन्दं सुखदं स्वरूपम् ॥ ७२ ॥
क्षुधातृषाद्वेषकषायमुक्तं मोक्षं लभन्ते विनयान्विता कौ ।
धर्मस्य देवस्य शिवप्रदस्य ज्ञात्वेति कार्यो विनयो गुरूणाम् ७३

अर्थ—इस संसार में देव शास्त्र गुरु का विनय करनेवाले पुरुषोको समस्त पुरुषार्थोकी सिद्धि करनेवाली परिणामोंकी शुद्धता प्राप्त होती है, यथार्थ सुख और यथार्थ शान्तिको देनेवाली अपने आत्माकी अनुभूति प्राप्त होती है, मुनियोके धर्म का सारभूत ऐसा वैराग्यसहित आत्मज्ञान प्राप्त होता है, अनंत सुख देनेवाला और अपने चिदानंद में मग्न करा देने वाला आत्माका शुद्ध स्वरूप प्राप्त होता है और भूख प्यास, राग, द्वेष, कषाय आदि समस्त विकारोंसे रहित मोक्षकी प्राप्ति होजाती है । यही सब जानकर मोक्ष देनेवाले देव, शास्त्र, गुरुओंका तथा अहिंसामय धर्मका विनय सदा काल करते रहना चाहिए ।

भावार्थ—जो पुरुष भगवान् अरहतदेवका श्रद्धान करता है उनके कहे हुए धर्मका वा उनके कहे हुए शास्त्रका श्रद्धान करता है तथा निर्ग्रंथगुरुओंका श्रद्धान करता है वही पुरुष इनका विनय कर सकता है । गुणोंमे श्रद्धा रखते हुए उन गुणोको धारण करने की तीव्र

लालसा होनेपर ही विनय की जाती है। तथा ऐसी अवस्थामें देव, शास्त्र, गुरुओंका विनय करनेसे पाप-कर्मोंका नाश होता है और पुण्य-कर्मोंका बंध होता है। इसके सिवाय जब वह उन गुणोंको स्वयं धारण कर लेता है तो परिणामोंमें शुद्धता प्राप्त हो ही जाती हैं, स्वात्मानुभूतिगुण प्रगट हो ही जाता है और अनुक्रमसे मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिए देव, शास्त्र, गुरु का विनय करना प्रत्येक भव्य जीवका कर्तव्य है ॥ ७२-७३ ॥

आगे वात्सल्य भावोंकी महिमा दिखलाते हैं।

प्रश्न—वात्सल्येन विना स्वामिन् वैराग्यं सफलं नवा।

अर्थ—हे भगवन्! विना वात्सल्य के वैराग्य सफल हो सकता है वा नहीं?

उत्तर—जने समाने स्वमतस्थिते च सुसाधुवर्गे व्रतशीलतुल्ये।
धर्मप्रचारे स्वहिते च लग्ने दक्षे सदा मोक्षपदप्रदाने ॥ ७४ ॥
वात्सल्यभावः सुखदो प्रमादात् भक्त्या सदा यैः क्रियते न मूढैः।
वैराग्यबोधौ विफलौ हि तेषां ज्ञात्वेति पूर्वोक्तविधिर्विधेयः ७५

अर्थ—जो अज्ञानी पुरुष अपने प्रमादके कारण अपने मतमें वा जैनधर्ममे स्थिर रहनेवाले अपने समान श्रावकोंमें भक्तिपूर्वक वात्सल्यभाव धारण नहीं करते अथवा जिनके व्रत, शील, अपने समान हैं ऐसे साधुओंमें भक्तिपूर्वक वात्सल्य भाव धारण नहीं करते, धर्म के प्रचार करनेमें वात्सल्यभाव धारण नहीं करते, अपने आत्माके हितमें निमग्न रहनेवाले वा मोक्षमार्गमें चलनेवाले भव्य जीवोंमे भक्तिपूर्वक वात्सल्यभाव धारण नहीं करते और मोक्षपदको देने में अत्यंत चतुर

ऐसे आचार्य वा उपाध्यायोंमें तथा साधुओंके समुदायमें भक्तिपूर्वक सुख देनेवाला वात्सल्यभाव धारण नहीं करते ऐसे लोगोंका वैराग्य और ज्ञान सब व्यर्थ है। यही समझकर धर्ममें तथा धर्मको धारण करनेवाले मुनि वा श्रावकोंमें अपने प्रमादको छोडकर भक्तिपूर्वक सदाकाल वात्सल्यभाव धारण करते रहना चाहिये।

भावार्थ—श्रावकधर्म वा मुनिधर्म दोनो ही मोक्षके मार्ग हैं। मुनिधर्म साक्षात् मोक्षका मार्ग है और श्रावकधर्म परपरासे मोक्षका मार्ग है। अतएव जो पुरुष मोक्षमार्गमें वा रत्नत्रयधर्ममें वा धर्म, शास्त्र, गुरुमें गाढश्रद्धान रखता है वही पुरुष इन सबमें वात्सल्य भाव धारण कर सकता है। रत्नत्रयमें अनुराग रखनेवाला पुरुष ही साधु वा श्रावकमें वात्सल्यभाव धारण कर सकता है। तथा उसका वह वात्सल्य रत्नत्रयगुणके कारण है अथवा उनमें रहनेवाले रत्नत्रयमें है इसीलिए वह भव्यजीव चाहे वह श्रावक हो और चाहे मुनि हो भक्ति और श्रद्धापूर्वक वात्सल्यभाव धारण करता है। मुनिराज विष्णुकुमारने मुनियोंमें होनेवाली गाढभक्ति और गाढश्रद्धासे ही वात्सल्यभाव धारण कर सातसौ मुनियोंका उपसर्ग दूर किया था और इस प्रकार उन मुनि और वहांके श्रावकोंकी धर्मकी रक्षा की थी। इसलिए प्रत्येक गृहस्थ वा मुनि को यह वात्सल्यभाव अवश्य धारण करना चाहिये। जो भव्यजीव वात्सल्यभाव धारण नहीं करता है समझना चाहिये कि उसके हृदयमें रत्नत्रयसे प्रेम नहीं है, तथा रत्नत्रयमें प्रेम न होनेके कारण उसका वैराग्य भी व्यर्थ हो जाता है और उसका वहुत बडा चढा ज्ञान भी व्यर्थ हो जाता है। ७४-७५।

प्रश्न—स्वदया पाल्यते येन वैराग्यं तस्य कीदृशम् ।

अर्थ—हे स्वामिन् जो पुरुष अपने आत्मा की दया पालन करता है उसका वैराग्य कैसा समझा जाता है।

उत्तर—स्वर्मोक्षदात्री स्वदयात्मनिष्ठैः स्वानन्दतृप्तैः परिपाल्यते यः ।
तथा परेषामसुरक्षणेन दृग्बोधचारित्रविवर्द्धनेन ॥ ७६ ॥
बोधामृतैर्वाभयदानयोगात् दत्त्वान्नवस्त्रं प्रियभाषणेन ।
वैराग्यरत्नं विमलं हि तेषां ज्ञात्वेति पाल्या स्वदयान्यजन्तोः ७७

अपने आत्मामें लीन रहने वाले और अपने आत्मजन्य अतीन्द्रिय सुखमें तृप्त रहने वाले जो भव्य जीव स्वर्ग मोक्ष देनेवाली अपने आत्माकी दया पालन करते हैं अथवा दूसरे जीवोंके प्राणोंकी रक्षा करके अथवा उनके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको बढाकर अथवा ज्ञानरूपी अमृतके द्वारा उनको अभयदान देकर अथवा अन्नवस्त्र देकर वा प्रिय भाषण कर जो पुरुष अन्यजीवोंकी दया पालन करते हैं उन्हीं पुरुषोंका वैराग्यरूपी रत्न निर्मल हो जाता है। यही समझकर प्रत्येक भव्य जीवको अपने आत्माकी दया पालन करनी चाहिए और अन्य जीवोंकी भी दया पालन करनी चाहिये ।

भावार्थ—जो पुरुष अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न कर अपने आत्माको नरक निगोदमें ढकेलते हैं वे पुरुष अपने आत्माके घातक समझे जाते हैं। क्योंकि घात करनेसे एकवार दुःख होता है परंतु पापकर्मोंके उदयसे नरक निगोदोंमें असंख्यात वर्षतक महादुःख प्राप्त होते रहते हैं। इसलिए कहना चाहिये कि पापकार्योंका करना ही आत्माका घात करना है और अपने आत्माको उन पाप कार्योंसे

बचाना अथवा अपने आत्माको मोक्षके मार्गमे लगा देना ही उसकी दया पालन करना है इसीलिए इस श्लोकमें स्वदयाका विशेषण स्वर्ग मोक्ष देनेवाली बतलाया है और उस स्वदयाको पालन करनेवालोका विशेषण अपने अपने आत्मामे लीन रहनेवाले वा आत्मजन्य सुखमे तृप्त रहनेवाले दिया है । जो पुरुष अपने आत्मामें लीन रह सकते है वे ही पुरुष अपने आत्माको समस्त पापोसे बचाकर मोक्षमें पहुचा सकते है । इसके सिवाय इस भव्यजीवको अपने आत्माकी स्वदया पालन करनेके लिए अन्य जीवोंकी भी रक्षा करनी चाहिए । तथा वह अन्य जीवोंकी रक्षा अन्न, वस्त्र देकर भी होती है, प्रिय भाषणसे भी होती है, अभयदानसे भी होती है और अन्य जीवोंकी वास्तविक दया उनके रत्नत्रय गुणको बढानेसे होती है । जो पुरुष इस प्रकार स्वदया और परदया का पालन करते हैं उनका वैराग्य अवश्य ही निर्मल होना चाहिए । इसमें किसी प्रकारका सदेह ही नहीं है । इसलिए ऐसी स्वदया प्रत्येक भव्य जीवको अवश्य पालन करना चाहिए ॥ ७६–७७ ॥

आगे वैराग्यकी स्थिरताका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न—कर्मणा केन सतिष्ठेद् वैराग्य शुद्धचेतसि ।

अर्थ—हे स्वामिन्, किस कामके करनेसे यह वैराग्य शुद्धहृदयमें ठहर सकता है ।

उत्तर- रागादिभावकर्मभ्यो मोहादिद्रव्यकर्मणः ।
देहादिकर्मणोऽप्यात्मा भिन्नश्चिह्नेन सर्वदा ॥ ७८ ॥

दक्षिणादुत्तरा लोके पूर्वतः पश्चिमो यथा ।
ज्ञात्वेति शुद्धचिद्रूपे तिष्ठेद् यः परमात्मनि ॥ ७९ ॥
तस्य स्यात्सफल जन्म वैराग्यं मोक्षसाधकम् ।
ज्ञात्वेति स्वात्मशुध्यर्थे यतन्तां भव्यबान्धवाः ॥८०॥

अर्थ—जिसप्रकार दक्षिणदिशासे उत्तरदिशा सर्वथा भिन्न है और पूर्व दिशासे पश्चिमदिशा सर्वथा भिन्न है, मोहनीय आदि द्रव्यकर्मोसे सर्वथा भिन्न है और शरीरादिक नो कर्मोसे सदा भिन्न है । आत्माकी यह भिन्नता उसके ज्ञानादिक गुणोसे वा ज्ञानदर्शनरूप लक्षणसे अपने आप सिद्ध हो जाती है । यही समझ कर जो भव्यजीव अपने शुद्ध चिदानन्दमय परमात्मामे लीन रहता है । उसीका जन्म इस ससारमे सफल है और उसीका वैराग्य मोक्षको प्राप्त करादेनेवाला समझा जाता है । इन सब बातोंको समझ कर भव्यजीवोंको अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिए सदाकाल प्रयत्न करते रहना चाहिये ।

भावार्थ—जबतक यह आत्मा रागद्वेषके वशीभूत बना रहता है अथवा ज्ञानावरणादिक आठों कर्मोके आधीन होकर इष्ट अनिष्ट पदार्थोसे रागद्वेष करता रहता है, अथवा शरीरसे ममत्व करता रहता है तबतक इसका वैराग्य कभी स्थिर नहीं रह सकता। जब यह आत्मा इन राग-द्वेषादिकको वा कर्मोको और शरीरको आत्मासे सर्वथा भिन्न मान लेता है तथा आत्माको इन सबसे भिन्न मानता है ज्ञान दर्शन आदि लक्ष-णोसे उसका स्वरूप कर्मादिक सबसे भिन्न समझता है, और फिर उस अपने आत्माको परपदार्थोमे लीन नहीं होने देता, केवल अपने आत्मामें

ही लीन रखता है और इस प्रकार समस्त रागद्वेष वा विकारोंको दूर कर आत्माको शुद्ध बना लेता है। उसीका वैराग्य सदाकाल स्थिर बना रहता है तथा उसीका जन्म भी सफल माना जाता है। क्योंकि जिस जन्मको धारण कर यह आत्मा अपना कल्याण कर ले वही जन्म सफल समझना चाहिये इसलिए समस्त भव्यजीवोंको अपना कल्याण करनेके लिए समस्त रागद्वेष आदि विकारोंको दूर कर अपने आत्माको शुद्ध करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये। यही मनुष्य जन्मका सार है ॥ ७८।७९।८० ॥

आगे मनुष्योंके श्रेष्ठ विचार दिखलाते हैं।

प्रश्न—**किं किं विचारणीयं को स्वामिन् मे वद साम्प्रतम्।**

अर्थ—हे स्वामिन् अब कृपाकर मुझे यह बतलाइये कि इस संसारमें क्या क्या विचार करना चाहिये।

उत्तर—विश्वस्वरूपं विविधप्रकारं कायस्वरूप विपरीतरूपम्।
चित्रं विचित्रं भयदं सदेत्थमस्त्यत्र लोके क्षणदृष्टनष्टम् ॥८१॥
ज्ञात्वा तयोर्दुःखमयं स्वभावं स्वप्नेऽपि रागो न कदापि कार्यः।
वैराग्यबोधादिविवर्द्धनार्थं पूर्वोक्तरीत्यैव विचारणीयम् ॥८२॥

अर्थ—इस संसारमें संसारका स्वरूप और शरीरका स्वरूप विचार करने से ही वैराग्य और ज्ञानकी वृद्धि होती है। देखो यह संसार अनेक प्रकारकी दुर्गतियोंसे भरा हुआ है इसमें अनेक प्रकार की चित्रविचित्रता देखी जाती है। आज जो अपना पिता है कल वही मरकर अपना पुत्र होजाता है। आज जो भगिनी कहलाती है वह मरकर भार्या बन जाती है वा पुत्री बन जाती है। यहांतक कि यह

जीव स्वयं मरकर अपना ही पुत्र बन जाता है। इसके सिवाय यह संसार देखते देखते नष्ट हो जाता है। माता, पिता, भाई, पुत्र आदिका सयोग बिजलीकी चमकके समान चंचल है, इनके वियोगका कोई निश्चित काल नहीं है, जिनका आज सयोग है कल उन्हींका वियोग हो जाता है। आज जो धनी है कल वही दरिद्र हो जाता है। इस प्रकार विचार करनेसे इस संसारकी अनित्यता अपने आप माल्म होजाती है। इसके सिवाय इस ससारमें सदा भय बना रहता है, किसीको राज्यका भय है, किसी को माता पिताका भय है, किसीको रोगोका भय है, किसीको चोरोंका भय है, किसीको शत्रुओंका भय है और किसीको इसलोक वा परलोकका भय है। इस संसारमें कोई भी जीव निर्भय नहीं रह सकता। इस प्रकार इस संसारका स्वरूप चिंतवन कर इस जीवको किसी से भी राग वा मोह नहीं करना चाहिये। इसीप्रकार शरीरका स्वभाव भी सदा दु खमय है इसमें अनेक रोग भरे हुए है, मलमूत्र भरा हुआ है हड्डी मास रुधिर आदि अत्यंत घृणित और निंद्य पदार्थोंसे यह बना हुआ है अत्यंत कृतघ्न है और अत्यत अपवित्र है। यदि इसी सुदरसे सुंदर शरीरको उलटकर इसके भीतरी भागको बाहर करदें तो कोई भी मनुष्य उसको देख भी नहीं सकता। इसके सिवाय वह क्षणभगुर है, अभी है, क्षणभरमें ही नष्ट हो जाता है, इसका कोई ठिकाना नहीं है। यही समझकर इस शरीरसे भी कभी प्रेम वा राग नहीं करना चाहिये। इन संसार और शरीर दोनोंका स्वभाव जैसा हम सुंदर और सुखदायी समझ रहे हैं वैसा नहीं है किंतु ठीक उससे प्रतिकूल है। दोनोंका स्वभाव दु ख देनेवाला है।

इसप्रकार दोनोंका स्वभाव चिंतन कर स्वप्नमें भी कभी इनमें राग नहीं करना चाहिये। प्रत्येक भव्य जीवको अपना वैराग्य और ज्ञानकी वृद्धि करनेके लिये ऊपर लिखे अनुसार संसार और शरीरका यथार्थ स्वभाव-चिंतन करते रहना चाहिये। इस प्रकारके चिंतन करनेसे वैराग्य ज्ञान की वृद्धि होती है आत्माके स्वरूपका यथार्थ बोध होता है और फिर शीघ्रही मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ८२ ॥

आगे ज्ञान वैराग्यके विना समस्त क्रियाओंको निष्फल बतलाते हैं।

प्रश्न—**ज्ञानवैराग्यशून्यस्य क्रिया स्यात् कीदृशी वद।**

अर्थ—हे भगवन् अब कृपाकर यह बतलाइये कि जो पुरुष ज्ञान वैराग्यसे रहित है उसकी क्रियाएं सब कैसी होती हैं।

उत्तर—**ज्ञानवैराग्यशून्यस्य क्रियाकाण्डो जपस्तपः।**
ध्यानाध्ययनमौनादि वृथा स्याल्लिंगधारणम् ॥८३॥
ज्ञात्वेति ज्ञानवैराग्य न विना लिंगधारणम्।
कार्यं न निष्फलं ध्यान विज्ञानशास्त्रधारिणा ॥८४॥

अर्थ—जो पुरुष ज्ञान वैराग्यसे रहित है उसका समस्त क्रियाकाड व्यर्थ है। जप, तप, ध्यान, अध्ययन और मौन धारण आदि समस्त कार्य व्यर्थ हैं, तथा दीक्षा लेकर ब्रह्मचारी वा क्षुल्लक होना अथवा जिनलिंग धारण करना भी व्यर्थ है। यही समझकर इस जीवको जबतक ज्ञान और वैराग्य की प्राप्ति न हो तबतक कभी भी जिनलिंग धारण नहीं करना चाहिए अथवा क्षुल्लक वा ब्रह्मचारी भी नहीं बनना चाहिए तथा विज्ञान शास्त्र के जानकार पुरुषोंको विना ज्ञान वैराग्य के निष्फल ध्यान भी नहीं करना चाहिए।

भावार्थ—ज्ञान शब्द से यहांपर आत्माका ज्ञान ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि बिना आत्मज्ञान के प्राप्त हुआ चाहे जितना ज्ञान भी मिथ्याज्ञान कहलाता है। तथा मिथ्याज्ञान संसारमें डुबोनेवाला है। इससे सिद्ध होता है कि आत्माका कल्याण करनेवाला आत्मज्ञान ही है। जबतक यह जीव अपने आत्माके स्वरूप को नहीं पहिचानता तबतक वह अपने आत्माका कल्याण भी कभी नहीं कर सकता इसलिए आत्मकल्याण करनेकेलिए आत्माके यथार्थ ज्ञानकी अत्यावश्यकता है। जब यह जीव अपने आत्माके स्वरूप को समझ लेता है तब वह अन्य शरीरादि परपदार्थोंसे अवश्य ही उदास हो जाता है, तथा उनसे ममत्व छोडकर आत्माके स्वभाव में लीन होने लगता है। ऐसी अवस्था मे जब यह जिनपूजा वा पात्रदान आदि कोई भी क्रिया करता है तो उसकी वह सब क्रिया सफल समझी जाती है। आत्मामे लीन होनेपर भी यह जीव ध्यान कर सकता है अध्ययन कर सकता है, मौन धारण कर सकता है और जिनलिंग धारण कर उसकी समस्त क्रियाएं यथार्थ रीतिसे पालन कर सकता है। बिना आत्मज्ञान के और बिना शरीरादिक परपदार्थोंसे ममत्व का त्याग किए यह जीव कभी यथार्थ जिनलिंग को धारण नहीं कर सकता और न ध्यान, अध्ययन, जप, तप आदि कर सकता है। अतएव विज्ञानशास्त्र को धारण करनेवाले विद्वानोंको भी आत्मज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि आत्मज्ञानके साथ ही यथार्थ वैराग्य की प्राप्ति होती है। बिना आत्मज्ञान और वैराग्य के उनका ध्यान, अध्ययन आदि भी सब व्यर्थ है और जिनलिंग धारण करना अथवा वर्णी वा क्षुल्लक होना भी सब

व्यर्थ है । बुद्धिमानोको ऐसे व्यर्थ कार्य कभी नही करने चाहिये ॥ ८३ - ८४ ॥

आगे मुनियोंके ही वैराग्यकी वृद्धि बतलाते है ।

प्रश्न—**वैराग्यं वर्द्धते स्वामिन् कस्मिन् जीवे गुरो वद ।**

अर्थ—हे गुरुदेव स्वामिन् अब यह बतलाइये कि यह वैराग्य किस जीवमे बढता रहता है ।

उत्तर—**सर्वसंगबहिर्भूते शत्रुमित्रसमानके**
मानापमानमुक्ते हि देहमात्रपरिग्रहे ॥ ८५ ॥
साधौ स्वसाधके धीरे वैराग्यं वर्द्धते वरम् ।
पूर्वोक्तधर्मबाह्ये न वंचके भेषमात्रके ॥ ८६ ॥

अर्थ—जो मुनि बाह्य अभ्यंतर समस्त चौवीस प्रकार के परिग्रह से रहित होते है, जो शत्रु मित्र दोनोंमे समान भाव धारण करते हैं, जो मान अपमान दोनोंसे सर्वथा रहित होते है, जिनके पास शरीर-मात्र ही परिग्रह है, शरीर के सिवाय और कुछ परिग्रह नहीं है, जो अपने आत्माके सिद्ध करने मे सदा लीन बने रहते हैं और जो अत्यंत धीरवीर होते है ऐसे मुनियोके ही श्रेष्ठ वैराग्य की वृद्धि होती है । जिन जीवोंमे वा साधुओमें ऊपर लिखे हुए धर्म नही है और जो केवल भेष धारण कर ससारको ठगते फिरते है ऐसे साधुओंमे वैराग्यकी सत्ता कभी नहीं हो सकती ।

भावार्थ—वीतरागता ही वैराग्यको वृद्धिका कारण है । जहा जहा वीतरागता है वहीं परिग्रहका त्याग होता है वहीं समताभाव धारण होते है और वहींपर मोह मद माया काम आदि समस्त विकारोंका

त्याग होता है। इसीलिए जहां वीतरागता है वहींपर वैराग्यकी वृद्धि होती है। जहां वास्तविक वीतरागता नहीं है, न समता-परिणाम है, न परिग्रहोंका त्याग है, न आत्माके कल्याण करनेकी इच्छा है तथा जहांपर केवल शरीरको और इन्द्रियोंके विषयोंको पुष्ट करनेकी लालसा लगी रहती है वहांपर कभी वैराग्य नहीं ठहर सकता। यदि कदाचित् ऐसे पुरुषोंके कभी वैराग्य प्रगट भी हो जाता है तो वह स्मशान-वैराग्यके समान उसी समय नष्ट हो जाता है। यह निश्चित सिद्धांत है कि विना वैराग्यके आत्माका कल्याण कभी नहीं हो सकता। इसलिए भव्य जीवोंको अपना आत्मकल्याण करनेकेलिए वैराग्य धारण कर समस्त परिग्रहोंका त्याग कर देना चाहिये समस्त इष्ट वा अनिष्ट पदार्थोंमें समता धारण करनी चाहिये और इस प्रकार वैराग्य की वृद्धि कर अपने आत्माका कल्याण कर लेना चाहिये यही मनुष्य जन्मका सार है ॥ ८५ । ८६ ॥

आगे विरक्त पुरुषके रहनेका स्थान बतलाते हैं।

प्रश्न—क्व वैराग्याभिलाषी भो तिष्ठेन्नवा गुरो वद ?

अर्थ—हे भगवन् वैराग्य धारण करनेकी इच्छा करनेवाले भव्य-जीवको कहां रहना चाहिये और कहां नहीं रहना चाहिये ? कृपाकर यह बतलाइये।

उत्तर—यस्मिन् प्रदेशे स्वसुखस्य हानिः
स्वराज्यलक्ष्मीश्च पराश्रिता स्यात् ।
भवेत्तथा संयमरत्नलोपो वैराग्यहानिरनिरागवृद्धिः ॥ ८७ ॥
स्वप्नेऽपि तस्मिन्न वसेत्प्रदेशे संसारभीरुः स्वपदानुरागी ।
वसेत्सदा यत्र निजात्मशुद्धिः स्वराज्यलक्ष्मीश्च भवेत्स्वदासी॥८८

अर्थ---जिस स्थानपर रहनेसे अपने आत्मजन्य अतीन्द्रिय सुखकी हानि होती हो, जहापर रहने से अपने आत्माकी शुद्धतारूप स्वराज्य-लक्ष्मी पराधीन हो जाती हो, जहापर रहनेसे सयमरूपी रत्नका लोप होता हो, जहापर रहनेसे वैराग्यकी हानि होती हो और जहापर रहने से रागादि विकारोकी अत्यत वृद्धि होती हो, ऐसे स्थानोंमे स्वप्नमे भी कभी नही रहना चाहिये। जो पुरुष इस जन्ममरणरूप ससारसे सदा-काल भयभीत रहता है और जो अपने शुद्ध आत्मामे ही सदा अनुरागी रहता है ऐसे भव्य जीवको जहापर रहनेसे अपने आत्माकी शुद्धता प्राप्त हो और जहापर रहनेसे अपने आत्माकी शुद्धतारूप स्वराज्यलक्ष्मी अपनी दासी होकर रह सकती हो ऐसे ही स्थानमे सदाकाल निवास करते रहना चाहिए।

भावार्थ—जहापर रागद्वेष बढानेवाले साधन हो, जहापर गाने-बजाने आदि रिझानेके साधन हो, जहापर असयमी दुष्टलोग रहते हों, अधर्मी म्लेच्छलोग रहते हो, जहापर लोगोंके आनेजाने ताता लगा रहता हो, जहापर किसी न किसी तरहका कलकल शब्द रहता हो, जहापर इन्द्रियोके वा मनके लुभानेके साधन हो, जहापर युद्ध होता हो, वा परस्पर लडनेवाले लोग रहते हों, जहापर भक्ष्य अभक्ष्यका कोई विचार न हो, जहापर सदाचार न हो, जहापर जिनालय न हो, जहापर सयमको पालन करनेवाले श्रावक वा मुनि न हो और जहापर न धर्मकी वृद्धिके साधन हों ऐसे स्थानोमें वैराग्य धारण करनेवाले पुरुषोंको कभी नहीं रहना चाहिये। विरक्त पुरुषोंको भी ऐसे किसी एकात स्थानमें रहना चाहिये, जहांपर कि ध्यान और अध्ययनकी सिद्धि

अच्छी तरह हो सके। क्योंकि ध्यान और अध्ययनके होनेसे ही आत्मा की शुद्धि हो सकती है तथा ध्यानसे ही आत्माकी परम शुद्धता प्राप्त हो सकती है ॥ ८७ - ८८ ॥

आगे मुनिजन दूसरोसे क्या ग्रहण करते हैं यही बतलाते हैं।

प्रश्न—**वैराग्यनिष्ठसाधुः किं पराद्गृह्णाति मे वद।**

अर्थ—परम वैराग्य को धारण करनेवाला साधु दूसरोंसे क्या ग्रहण करता है सो कृपाकर बतलाइये।

उत्तर—**केवलमन्नमात्रं च प्रासुकं विधिनार्पितम्।**
तदपि तनुस्थित्यर्थं गृह्णाति ध्यानवर्द्धकम्॥ ८९॥
नैवाक्षसौख्यहेतोश्च तनुसौंदर्यहेतवे।
ज्ञात्वेति निर्ममः सन् हि स्वराज्यं सुखदं कुरु॥ ९०॥

अर्थ—मुनिलोग व्रती श्रावकोसे केवल अन्न ग्रहण करते हैं वह भी प्रासुक और विधिपूर्वक दिया हुआ ही ग्रहण करते हैं। वह भी केवल शरीर को स्थिर रखनेके लिए और उस शरीरसे ध्यानकी वृद्धि करनेके लिए आहार ग्रहण करते हैं। मुनिलोग इंद्रियोंके सुखके लिए अथवा शरीरकी सुन्दरता के लिए कभी आहार ग्रहण नहीं करते है। यही समझकर प्रत्येक भव्यजीवको अपने शरीरसे ममत्वका त्याग कर देना चाहिये और परमसुख देनेवाला अपनी आत्माकी शुद्धतारूप स्वराज्य धारण करना चाहिये।

भावार्थ—मुनिलोग शरीरसे भी ममत्व नहीं रखते हैं फिर भला वे भोजनसे तो ममत्व कैसे रख सकते हैं। इससे ही यह सिद्ध हो जाता है कि वे शरीरकी सुन्दरताकेलिये कभी आहार नहीं

लेते । जब उनके शरीरसे ही ममत्व नहीं है फिर भला उनके इन्द्रियों के विषयोंकी लालसा भी कैसे हो सकती है अर्थात् कभी नहीं हो सकती । इससे यह भी मालूम हो जाता है कि मुनिलोग इन्द्रियोंको तृप्तकरनेकेलिये वा उनको पुष्टकरनेकेलिये भी आहार नहीं लेते । परंतु ऐसी अवस्थामें यह प्रश्न आजाता है कि फिर वे आहार लेते ही क्यों हैं । इसका उत्तर यह है कि इस आत्माके साथ अनतानत कर्मोंका समूह लगा हुआ है तथा कर्मोंका नाश विना तपश्चरण वा विना ध्यानके कभी नहीं हो सकता । कर्मोंका नाश करनेकेलिये तपश्चरण और ध्यान करना ही चाहिये, तथा तपश्चरण और ध्यान विना शरीरके नहीं हो सकता और शरीर विना-आहारके टिक नहीं सकता । इसलिए वे परम वीतराग मुनिराज इस शरीरके द्वारा तपश्चरण और ध्यानकी वृद्धि करनेकेलिये ही आहार ग्रहण करते हैं और वह भी यदि नवधा भक्ति पूर्वक वत्तीस अतराय और छयालीस दोप टालकर मिलता है तो लेते हैं नहीं तो नहीं । इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको इसी प्रकार शरीरसे ममत्व छोडकर आत्माको शुद्ध करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये ॥ ८९ । ९० ॥

आगे समस्त परिग्रहोंका त्याग करनेपर भी आहारके त्याग न करनेका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न—**सर्वसंगपरित्यागी किं न त्यजति भोजनम् ।**

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब यह बतलाइये कि मुनिलोग समस्त परिग्रहोंका त्याग कर देते हैं फिर भी वे भोजन का त्याग क्यों नहीं करते ।

उत्तर—न गृह्णाति यदि ह्यन्नं तर्हि तनुर्विनश्यति ।
पूर्वकर्मस्थितेः शेषाज्जन्ममृत्युः पुनः पुनः ॥ ९१ ॥
अन्नं हि तनुस्थित्यर्थं तनुः स्याद्ध्यानवृद्धये ।
सर्वकर्मविनाशार्थं ध्यानं स्यान्न्यायसंगतम् ॥ ९२ ॥

अर्थ—यदि मुनिलोग अन्न ग्रहण न करे तो विना अन्नके उनका शरीर अवश्य ही नष्ट हो जायगा तथा शरीरके नष्ट होनेसे पहले के संचित किए हुए कर्मोंकी स्थिति ज्योंकी त्यों बनी रहेगी और कर्मोंकी स्थिति बने रहनेसे फिर भी बार बार जन्ममरण करना पड़ेगा। यदि वे मुनिराज अन्न ग्रहण कर लेते हैं तो शरीर की स्थिति बनी रहती है, शरीर की स्थिति बनी रहनेसे ध्यानकी वृद्धि होती है और ध्यानसे समस्त कर्मोंका नाश होजाता है। यह बात न्यायसंगत है। इसीलिये मुनिराज आहार ग्रहण करते हैं।

भावार्थ—मुनिराज शरीरसे ममत्व नहीं रखते हैं यह बात निश्चित है। शरीरसे ममत्व न रखनेके कारण वे आहारका भी त्याग कर सकते हैं। परन्तु आहारका सर्वथा त्याग कर देनेसे शरीरकी स्थिति नहीं रह सकती, तथा विना शरीरके ज्ञान वा ध्यान की वृद्धि नहीं हो सकती और विना ध्यान व ज्ञानके कर्मोंका नाश नहीं हो सकता। अतएव। मोक्ष प्राप्त करनेवाले पुरुषोंको कर्मोंके नाश करनेकी आवश्यकता है, कर्मोंको नाश करनेकेलिये ध्यान व ज्ञानकी आवश्यकता है, ज्ञान व ध्यानकेलिये शरीरकी आवश्यकता है और शरीरकेलिये आहारकी आवश्यकता है इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान व ध्यानकी वृद्धि करनेकेलिये ही मुनिराज आहार ग्रहण करते हैं। इनके आहार

ग्रहण करनेका और कोई दूसरा हेतु नहीं है ॥ ९१।९२ ॥

आगे विरक्तबुद्धि किनकी होती है यही बतलाते हैं—

प्रश्न—सुबुद्धिः विरतिः केषां प्रशंसनीया गुरो वद ।

अर्थ– हे स्वामिन् ! विरक्तबुद्धि किनकी प्रशसनीय गिनी जाती है

उत्तर–स्वानन्दसाम्राज्यपदे पवित्रे कर्तुं निवास स्वरसस्य पानम्
हर्तुं यतन्ते विषयं कषायं वहि प्रवृत्ति भयदां सदा ये ९३
तेषां भवेदेव निजाश्रितानां प्रशंसनीया विरतिः सुबुद्धिः ।
ज्ञात्वेति भव्यैः परिपालनीया पूर्वोक्तरीतिः सुखशांतिदात्री

अर्थ—जो भव्यजीव अपने पवित्र चिदानदरूपी साम्राज्यपदमे निवास करनेकेलिये सदाकाल प्रयत्न करते रहते हैं, अपने आत्मजन्य अतीन्द्रिय सुखके आस्वादन करने का प्रयत्न करते रहते है, तथा विषय और कषायोंके त्याग करनेका प्रयत्न करते रहते है अनेक प्रकारके भय उत्पन्न करनेवाली अपनी बाह्य प्रवृत्तियोके त्याग करनेका प्रयत्न करते रहते है और जो सदाकाल अपने शुद्ध आत्मामें लीन रहते हैं ऐसे भव्यजीवोंकी सुबुद्धि और त्याग दोनों ही प्रशंसनीय माने जाते है । यही समझकर समस्त भव्यजीवोको सुख और शाति देने-वाले ऊपर लिखे समस्त कार्योंके करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये।

भावार्थ—जबतक यह जीव विषय कषायोका त्याग नहीं करता और उन विषय कषायोंके आधीन रहनेवाली बाह्य प्रवृत्तियोंका त्याग नहीं करता तबतक यह जीव अपने आत्माका कल्याण करनेकेलिये प्रवृत्त नहीं हो सकता । तथा आत्मकल्याणकी प्रवृत्तिके विना अतीन्द्रिय सुख का आनद वा अनुभव नहीं मिल सकता । और विना अपने आत्माके-

अनुभवके न तो सुबुद्धि उत्पन्न होसकती है और उस सुबुद्धिके विना यथार्थ त्याग ही होसकता है। इसलिये जो पुरुष अपने आत्माका कल्याण करना चाहते हैं, आत्मामें अनंत सुख और शान्ति उत्पन्न करना चाहते हैं, उनको सबसे विषय कषायोंका त्याग करना चाहिये और फिर अनुक्रमसे बाह्य प्रवृत्तियोंका त्याग कर अपने शुद्ध आत्माके अनुभव करनेका प्रयत्न करना चाहिये। जिस भव्यजीवको अपने शुद्ध आत्माका अनुभव हो जाता है उसको शरीर आदि परपदार्थोंका भी यथार्थ ज्ञान हो जाता है। तथा परपदार्थोंका यथार्थ ज्ञान होनेसे वह उनके त्याग करनेका प्रयत्न करता है। और अनुक्रमसे समस्त परपदार्थोंका त्याग कर अपने आत्माको सम्यग्ज्ञानमय वनालेता है बस यही उसका त्याग और यही उसकी सुबुद्धि संसारभरमें प्रशंसनीय गिनी जाती है। इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवालोंको अपनी ऐसी ही प्रशंसनीय सुबुद्धि वनानी चाहिये जिससे कि उन्हें शीघ्र ही अनंत सुखकी प्राप्ति होजाय ॥ ९३ । ९४ ॥

आगे ज्ञान वैराग्यसे रहित मुनिकी व्यर्थता दिखलाते हैं।

प्रश्न—**वैराग्यबोध हीनश्च मुनिर्भाति नवा कचित्।**

अर्थ—हे स्वामिन्! अब यह बतलाइये कि वैराग्य और ज्ञानके विना यह मुनि कहीं शोभायमान होता है वा नहीं ?

उत्तर—**संसारसंतापविनाशकेन वैराग्यबोधेन शिवप्रदेन।**
विना मुनीनां नच भाति वेषो वपुश्च वाणी न नृजन्म तेषाम्॥९५
क्रियाकलापोपि जपस्तपश्च वृथा भवेत्संयमधारणादि।
ज्ञात्वेति नित्यं परिवर्द्धनीयौ वैराग्यबोधौ नृजन्मसारौ ॥९६॥

अर्थ—यह मुनियोंका उत्तम वैराग्य और आत्मज्ञानरूपी सम्यग्ज्ञान संसारके समस्त संतापोंको नाश करनेवाला है और मोक्षको देनेवाला है। इसीलिये इस उत्तम वैराग्य और आत्मज्ञानरूपी सम्यग्ज्ञानके विना न तो उनका वेष शोभायमान होता है, न उनका शरीर शोभायमान होता है, न उनकी वाणी शोभायमान होती है, न उनका मनुष्यजन्म शोभायमान होता है, न उनकी समस्त क्रियाएं शोभायमान होती हैं, न उनका जप या तपश्चरण शोभायमान होता है और न उनका संयम धारण करना या पीछी कमंडलु आदि लेना शोभायमान होता है। विना ज्ञान वैराग्यके उन मुनियोंके संयम, जप, तप आदि सब व्यर्थ होजाते हैं। यही समझकर भव्यजीवोंको मनुष्यजन्मके सारभूत ऐसे इन उत्तम वैराग्य और सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि सदाकाल करते रहना चाहिये।

भावार्थ—मुनियोंकी शोभा ज्ञान और वैराग्यसे ही है। यद्यपि मुनिदीक्षा वैराग्य उत्पन्न होनेपर ही धारण की जाती है, विना वैराग्यपरिणामोंके कोई भी जीव मुनिदीक्षा धारण नहीं करसकता तथापि प्रत्येक मुनिको अपना वह वैराग्य स्थिर रखना चाहिये। यदि वह वैराग्य स्थिर नहीं रहेगा तो किसी भी समयमें उसके भ्रष्ट होनेकी संभावना बनी रहेगी। इसलिये अपने मुनिव्रतमें अत्यंत स्थिर रहनेके लिये प्रत्येक मुनिको अपने वैराग्यकी स्थिरता बनाये रखना चाहिये। तथा वैराग्यको स्थिर रखते हुए अपने ज्ञानकी वृद्धि करते रहना चाहिये। इस ज्ञानका कोई पारावार नहीं है, केवलज्ञान ही इसकी सीमा है। इसलिये जबतक केवलज्ञानकी

प्राप्ति न होजाय तबतक प्रत्येक मुनिको अपने आत्मज्ञानकी शुद्धि करते रहना चाहिये। यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि यह आत्म-ज्ञान जैसा जैसा बढता जायगा वैसेही ध्यानकी वृद्धि होती रहेगी। तथा ध्यानकी पूर्णता होनेपर केवलज्ञान और मोक्षकी प्राप्ति अवश्य होगी। इसलिए मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियोको अपना उत्तम वैराग्य स्थिर रखते हुए आत्मज्ञानकी वृद्धि करते रहना चाहिये। विना ज्ञान वैराग्यके उनका जप, तप, सयम, मिष्टभाषण आदि सब व्यर्थ है। विना ज्ञान वैराग्यके मुनि कहीं भी शोभायमान नहीं होता।९५-९६।

आगे गाढ वैराग्यकेलिये कर्तव्य बतलाते है—

प्रश्न—वैराग्यं कस्य गाढ स्याद्वद मे शर्मद गुरो।

अर्थ— हे स्वामिन्! अब कृपाकर मुझे यह बतलाइये कि किस पुरुषके यह वैराग्य अत्यंत स्थिर रहता है।

उत्तर—

मायासुमिथ्यात्वनिदानशल्य यस्यास्ति किंपाकफलस्य तुल्यम्।
प्रतिक्षण प्राणहर नितान्तमज्ञानजं तापकर सदा हि ॥९७॥
स्वप्नेपि तस्यास्ति नराधमस्य वैराग्यवृत्ति. सुखदा न विज्ञा
ज्ञात्वेति मुक्त्वा त्रिविध च दोष वैराग्यवृत्तिर्हृदि धारणीया॥९८॥

अर्थ—इस ससारमें माया, मिथ्यात्व और निदान ये तीनो शल्य किंपाक फलके समान अतमे दु.ख देनेवाली हैं। प्रत्येक क्षणमें प्राणोंको नाश करनेंवाली हैं, अत्यत अज्ञानसे होनेवाली है और अनेक प्रकारके सताप उत्पन्न करनेवाली हैं। इसलिये जिस पुरुपके ये तीनो शल्य रहती हैं वह मनुष्य नराधम वा नीच कहलाता है और इसीलिये उसके

सुख देनेवाली वैराग्यकी प्रवृत्ति और ज्ञानकी प्रवृत्ति स्वप्नमे भी कभी नहीं हो सकती। यही समझकर माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीनों शल्योंका त्यागकर देना चाहिये और अपने हृदयमें वैराग्यकी भावना धारण करनी चाहिये।

भावार्थ—दगाबाजी वा मायाचारी करनेको मायाशल्य कहते है। मायाचार करनेवाले पुरुषके वैराग्यकी भावना कभी हो ही नहीं सकती। यद्यपि मायाचारी पुरुष अपने मायाचारके बलसे ऊपरसे मिथ्या-वैराग्यभावना दिखला सकता है परतु उसकी वह मिथ्या-वैराग्यभावना मायाचारके कारण नीच तिर्यंच योनि अथवा निगोद की कारण बन जाती है। उस वैराग्यभावनासे आत्माका कल्याण कभी नहीं हो सकता। इसीप्रकार आत्माके यथार्थ स्वरूपके श्रद्धान न करनेको मिथ्यात्व कहते है। यह मिथ्यात्व भी नरकका कारण है और वैराग्यभावनाका परमशत्रु है। क्योंकि जहापर मिथ्यात्व है वहापर आत्माके स्वरूपका यथार्थ श्रद्धान वा यथार्थ ज्ञान कभी हो ही नहीं सकता और बिना आत्माके यथार्थस्वरूपके श्रद्धानके वैराग्यभावना कभी प्रगट नहीं हो सकती। इसके सिवाय यह मिथ्यात्व समस्त पापोंकी जड है और अनंतकालतक दु.ख देनेवाला है। इसीप्रकार आगामी भोगोंकी आकाक्षाको निदान कहते है। यह निदान भी लोभ-कषाय की पर्याय है तथा लोभ पापका भी बाप है। ससारमे जितने पाप उत्पन्न होते हैं वे प्राय. किसी न किसीके लोभसे ही उत्पन्न होते है। इस प्रकार यह निदान भी समस्त पापोकी जड कहलाता है। इस प्रकार ये माया, मिथ्यात्व और निदान तीनों ही महापाप कहलाते हैं।

ये तीनो ही पाप यद्यपि देखनेमें सुंदर जान पडते हैं परंतु किंपाक-फलके समान तीव्रदुःख देनेवाले होते हैं। किंपाकफल एक फल होता है जो देखनेमे सुंदर और खानेमें कुछ मीठा होता है। परंतु वह विषैला होता है इसलिये अज्ञानी मनुष्य उसे अच्छा और कुछ मीठा समझकर खाते जाते है परंतु अंतमे मरजाना पडता है। इसी प्रकार इन तीनों शल्योका धारण करना अच्छा तो लगता है परंतु उसका फल नरक निगोदके सिवाय और कुछ प्राप्त नहीं होता। इसीलिये आचार्योंनें इन तीनों शल्योंको प्राणनाश करनेवाले, सदाकाल, अत्यत दु:ख देनेवाले और अज्ञानतासे उत्पन्न होनेवाले बतलाया है। जिस पुरुषके ये तीनो शल्य होते हैं उसके यह सुख देनेवाली वैराग्य भावना कभी नहीं हो सकती। इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्यजीवोको सबसे पहले माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीनों शल्योंका त्याग करदेना चाहिये और इसप्रकार अपने आत्माको निर्मल बनाकर फिर अपने पवित्र हृदयमे वैराग्य भावनाएं धारण करनी चाहिये। ऐसा करनेसे ही वह वैराग्यभावना स्थिर रह सकती है॥ ९७ - ९८॥

आगे—यह वैराग्य किसके हो सकता है सो दिखलाते है।

प्रश्न — सद्वैराग्यवित्तं च कीदृग्नरे भवेद् वद।

अर्थ—हे भगवन्! अब यह बतलाइये कि यह उत्तमवैराग्यरूपी धन कैसे मनुष्यके हो सकता है।

उत्तर—निर्द्वन्द्वो निर्मदः शान्तः शुद्धचिद्रूपनायकः।
स्वानन्दसुखसम्पन्नः पञ्चाक्षसुखदूरगः॥ ९९॥

ज्ञानवैराग्यसंतुष्टः परधर्मपराङ्मुखः ।
सद्वैराग्यधनं तस्य भवेत्स्वर्गमोक्षदायकम् ॥ १०० ॥

अर्थ—जो भव्यजीव सब प्रकारके कलह वा कषायोंसे रहित हैं, जो मोह, मद, माया आदि समस्त विकारोंसे रहित हैं, अत्यंत शान्त हैं, जो अपने शुद्ध चिदानंदरूप आत्माके स्वामी हैं, जो आत्मजन्य आनंद वा सुखसे सुशोभित हैं, जो पांचों इन्द्रियोंके सुख वा विषयोंसे सर्वथा दूर रहते हैं, जो अपने आत्मज्ञान वा वैराग्यमें ही सदाकाल संतुष्ट रहते हैं और जो आत्मासे भिन्न ऐसे कर्मोंके उदयसे होनेवाले कषायादिक भावोंसे सर्वथा पराङ्मुख रहते हैं, अथवा शरीरादिक परपदार्थोंके मोहसे सर्वथा अलग रहते हैं। ऐसे ही भव्यपुरुषोंके स्वर्ग मोक्षको देनेवाला यह उत्तम वैराग्यरूपी धन स्थिरताके साथ निवास करता है।

भावार्थ—पांचों इन्द्रियोंके विषय, क्रोधादिक कषाय और मोह, मद माया आदि आत्माके जितने विकार हैं वे सब वैराग्यको नाश करनेवाले हैं। अतएव वैराग्य धारण करनेवालोंको सबसे पहले आत्माके विकारोंका त्याग कर देना चाहिये। शरीरमें ममत्वका त्याग कर देना चाहिये और भोगोपभोगोंके समस्त साधनोंका वा उनके सेवन करनेकी समस्त इच्छाओंका त्याग कर देना चाहिए। इसके सिवाय आत्माकी शुद्ध अवस्थाको धारण करना चाहिये उस शुद्ध अवस्थामें लीन होना चाहिये और इसप्रकार सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि करते हुए अपनी वैराग्य-भावनाको दृढ बनाना चाहिये। मोक्ष प्राप्त करनेकी लालसा रखनेवाला जो पुरुष इसप्रकार अपने आत्मामें वैराग्यभावनाको दृढ करता है उसी पुरुषके स्वर्ग मोक्ष देनेवाला वैराग्यरूपी धन सदा-

काल बढता रहता है ॥ ९९ । १०० ॥

आगे वैराग्यके बढानेके कारण बतलाते है ।

प्रश्न—वर्द्धते हेतुना केन वैराग्य शर्मदं वद ।

अर्थ—हे स्वामिन् अब यह बतलाइये कि यह कल्याण करनेवाला वैराग्य किनकिन कारणोंसे बढता रहता है ।

उत्तर—मनोवच.कायसुमुण्डनेन पचाक्षचौरादिकदण्डनेन ।
कषायमोहादिकखण्डनेन कदर्पलोभादिकमर्दनेन ॥ १०१ ॥
वैराग्यपूर सुखशान्तिनीर' प्रवर्द्धते स्वात्मरसोतिमिष्ट' ।
प्रवर्तनेनैव तथान्यथा हि ससारसिंधुश्च विपत्प्रकीर्णः १०२

अर्थ—मन, वचन, काय इन तीनोंका मुडन करने से अर्थात् इन तीनोंकी समस्त क्रियाओंका त्याग कर देनेसे, पाचों इंद्रियरूपी चौरोको दड देनेसे, कपाय और मोहादिक का खंडन कर देनेसे और लोभ काम आदि का मर्दन कर देनेसे वैराग्यका वेग बढता है, सुख और शांतिरूपी जलकी वृद्धि होती है और अत्यंत मिष्ट ऐसे स्वानुभूति-रूपी सरस रसकी वृद्धि होती है । यदि इनसे विपरीत किया जाय अर्थात् मन, वचन, कायको वशमें न किया जाय, इन्द्रियोंका निग्रह न किया जाय, कषाय वा मोहको दूर न किया जाय वा काम लोभ आदिको न दबाया जाय तो अनेक विपत्तियोसे भरा हुआ यह जन्म मरणरूप ससारसमुद्र सदाकाल बढता रहता है ।

भावार्थ—इस ससारमें ससारी जीवोंको अनेक प्रकारके दु ख देनेवाले कर्म है । उन कर्मोंका आस्रव मन, वचन, कायकी क्रियाओंसे होता है । यदि मन वचन कायकी क्रियाए बराबर होती रहेंगी तो

कर्मोका आस्रव भी बराबर होता रहेगा और कर्मोका आस्रव होनेसे चारों गतियोंके दुःखोंसे भरा हुआ यह संसार बढ़ता ही रहेगा। परंतु जब यह आत्मा इन मन वचन कायको अपने वशमें कर लेता है तब वह उनसे पापरूप क्रियाएं नहीं करने देता, तथा अनुक्रमसे पुण्यरूप क्रियाओंका भी त्याग करता हुआ उन मन वचन कायकी समस्त क्रियाओंका त्यागकर शुद्ध आत्माके चिन्तन करनेमें वा ध्यान करनेमें लीन होजाता है। उस समय उसको वैराग्य वा सुख, शांति अथवा स्वात्मजन्य अतींद्रिय सुख परम वृद्धिको प्राप्त होता है। जिसप्रकार मन वचन कायकी क्रियाएं कर्मोके आनेमें कारण हैं उसीप्रकार पांचों इन्द्रियोंके विषय, मोह, कषाय, लोभ, काम आदि समस्त आत्माके विकार कर्मोके बंध होनेमें कारण हैं। यदि ये कषायादिक न हों तो कर्मोका आस्रव भी कुछ नहीं कर सकता। क्योंकि आत्माके साथ कर्मोका संबंध करनेवाले, आत्माको बांधनेवाले कषायादिक ही हैं। और इसीलिये ये कषायादिक सब संसारको बढानेवाले हैं। जब यह आत्मा अपने आत्माका स्वरूप समझकर उस अपने आत्माको पांचों इंद्रियोंके विषयोंसे हटा लेता है। काम, क्रोध, मद, माया, लोभ, मोह आदि सबसे हटा लेता है अर्थात समस्त विकारोंको दूर कर देता है और फिर उस अपने आत्माको अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन कर लेता है, तभी उसका यह वैराग्यका रंग अंतिम सीमातक पहुंच जाता है तथा उसी समय सुख शांति की वृद्धि हो जाती है और इसी समय चिदानंदमय अतींद्रिय आत्मलीनतारूपी रसकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिए मोक्षके अनंतसुखकी इच्छा करनेवाले भव्यजीवोंको

मन, वचन, काय की क्रियाओंका तथा कषायादिकोंका त्याग कर परम वैराग्य की वृद्धि करनी चाहिए। जिससे परभावोंका नाश होकर शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो ॥ १०१ - १०२ ॥

आगे वैराग्य के साधकका स्वरूप बतलाते हैं।

प्रश्न—**वैराग्यसाधकः कोऽस्ति शर्मदो वद मे गुरो ।**

अर्थ—हे भगवन्! अब मुझे कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसार में वैराग्य को सिद्ध करनेवाला कौन है?

उत्तर—**परानन्दः कृपामूर्तिर्जितशत्रुः कुकामहा ।**
अतींद्रियोऽतिसन्तुष्टः सत्यरूपो गतस्पृहः ॥ १०३ ॥
यः स्यादाकाशवच्छुद्धः सः स्याद्वैराग्यसाधकः ।
ज्ञात्वेति पूर्वरीत्यादिं कुर्वन्तु स्वात्मशोधनम् ॥ १०४ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव आत्मजन्य परम आनदको प्राप्त हो गया है, जो कृपाकी मूर्ति है, जिसने काम क्रोधादिक अंतरंग शत्रु सब जीत लिये हैं, जिसने समस्त ससारको दुःख देनेवाले कामदेवको नाश कर दिया है, जो इद्रियजन्य सुखोंसे अलग होकर अतींद्रिय सुखमें लीन रहता है, जो सदाकाल उसी अतींद्रिय सुखमें संतुष्ट रहता है, जो सत्यस्वरूप है अर्थात् आत्माके यथार्थस्वरूप पर ही श्रद्धा रखता है, जो सब प्रकार की इच्छाओंसे वा लालसाओंसे रहित है और जो निर्मल आकाशके समान अत्यंत शुद्ध है ऐसा भव्यजीव ही वैराग्यको सिद्ध कर सकता है। इस प्रकार जो पहले आत्माको शुद्ध करनेकी रीतियां बतलाई हैं उन सबको जानकर प्रत्येक भव्यजीवको अपना आत्मा अत्यत शुद्ध कर लेना चाहिये।

भावार्थ---इस मोक्ष देनेवाले परमवैराग्यको सिद्ध कर लेना अत्यंत कठिन कार्य है। जो भव्यजीव संसारके समस्त जीवोंको अपने आत्माके समान समझकर उनपर पूर्ण दया पालन करता है, जो जीव क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, काम आदि कर्म बंधन करनेवाले आत्माके समस्त शत्रुओंको पूर्णरूपसे जीत लेता है, जो कामदेवको सर्वथा नष्ट कर बालकके समान निर्विकारवृत्ति धारण कर लेता है, जो सब तरह की लालसाओंका त्याग कर देता है, वा भोगोपभोग की समस्त सामग्रीका त्याग कर देता है। तथा इसीलिए जो अपने शुद्ध आत्मामें ही परमानन्दका अनुभव करता हुआ अतींद्रिय सुखमें लीन रहता है और उसीमें संतुष्ट रहता है और निर्मल आकाशके समान पापरूप धूलिसे कभी लिप्त नहीं रहता, सदाकाल अपने आत्माको शुद्ध बनाये रखता है ऐसा उत्कृष्ट भव्यजीव ही मोक्षका साक्षात् साधक परमोत्कृष्ट वैराग्यको सिद्ध कर सकता है। और अंतमें वही मोक्षसुखको प्राप्त कर सकता है। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको ऐसा परमोत्कृष्ट वैराग्य धारणकर अपने आत्माको परम शुद्ध बना लेना चाहिये जिससे शीघ्रही चिदानंदमय अनंतसुखकी प्राप्ति हो जाय ।१०३-१०४।

आगे किनके हृदयमें वैराग्य बना रहता है यह दिखलाते हैं।

प्रश्न---वैराग्यं शर्मदं केषां वर्तते वद चेतसि ।

अर्थ---हे स्वामिन् अब यह बतलाइये कि यह कल्याण करनेवाला वैराग्य किनके हृदयमें रहता है ?।

उत्तर—अनन्तवारं कृतमेव कार्यं तथा मया कारितमेव निंद्यम् ।
नृजन्मलब्ध्वेति यदेव कर्तुं योग्यं तदेवात्र कृतं न मोहात् ॥१०५
एवं विचार्यैव निजात्मशुद्धिं कर्तुं सदा यो यतते स्वराज्यम् ।
तस्यैव धीरस्य निजाश्रितस्य वैराग्यवित्तं स्वसुखप्रदं स्यात् ।१०६

अर्थ—"इस संसारमें मैंने निंदनीय कार्य अनंतवार किये और अनंतवार ही कराये । इस मनुष्य जन्मको पाकर भी जो योग्य कार्य करना चाहिये वह योग्य कार्य मैंने अपने मोहके वशीभूत होकर कभी नहीं किये ।" इसप्रकार चिन्तन करनेवाला जो धीरवीर और केवल अपने आत्माके आश्रित रहनेवाला भव्यजीव अपने आत्माको शुद्ध करनेका प्रयत्न करता रहता है और उसे आत्माकी शुद्धतासे प्रगट होनेवाले सुखरूपी स्वराज्यको प्राप्त करनेकेलिये जो सदाकाल प्रयत्न करता रहता है उसीपुरुषके यह अपने आत्माको सुख देनेवाला वैराग्यरूपी धन प्राप्त होता है ।

भावार्थ—इस संसारमें इन्द्रियोंके विषय और कषायादिक अनादिकालसे इस जीवके साथ लगे हुए है, इनके द्वारा इस जीवने अनंतवार ही नरक निगोदादिकके दुःख भोगे है तथापि यह जीव इनका त्याग नहीं करता, वार वार इन्हींमे फंसा रहता है । अब यह मनुष्य-जन्म बडी कठिनतासे प्राप्त हुआ है, तथा तप, जप, कर्मोका नाश, ध्यान, ज्ञान आदि आत्माके कल्याण करनेवाले समस्त कार्य इस मनुष्य-जन्ममें ही हो सकते हैं । तथापि यह मनुष्यजीव जप, तप करने में नहीं लगता किंतु महादुःख देनेवाले उन्हीं विषयकषायोंमें लगा रहता है । परंतु उत्तम मनुष्यजन्मको पाकर ऐसा करना अत्यंत अयोग्य है ।

मनुष्यजन्मको पाकर तो इस आत्माको सबसे पहले अपना कल्याण कर लेना चाहिये। ये विषय कषाय सदाकालसे इस जीवको दुःख देते चले आ रहे हैं। इसलिए इनका सर्वथा त्याग कर तपश्चरण करना चाहिये और ज्ञान ध्यानकी वृद्धि करते रहना चाहिए यही मनुष्यजन्म प्राप्त करनेका यथार्थ फल है "। इसप्रकार विचार वा चिंतन कर जो पुरुष इन विषय कषायोंका त्याग कर अपने आत्माको शुद्ध करनेमें लग जाता है, तपश्चरण और ध्यानके द्वारा अपने कर्मोंके नाश करनेमें लग जाता है और इसप्रकार अपने आत्मजन्य सुख की प्राप्तिके लिए सदाकाल प्रयत्न करता रहता है तथा इन सब कार्योंमे विघ्न आनेपर भी परिषह और उपसर्ग आनेपर भी जो कभी चलायमान नहीं होता तथा शरीरादिक परपदार्थोंसे सर्वथा ममत्व छोड-कर केवल अपने आत्मामें ही लीन रहता है उसी महा-पुरुषके यह वैराग्यरूपी धन मोक्षप्राप्त होनेतक सदाकाल विद्यमान रहता है अतएव प्रत्येक भव्यजीवको ज्ञान वैराग्य बढानेकेलिये विषय कषायोंका त्याग करना चाहिये और आत्मामे लीन होकर ज्ञान वैराग्यकी वृद्धि करते रहना चाहिए। यही मनुष्यजन्मका सार है।

वैराग्यबोधेन विना प्रमूढो यः कोपि गृह्णाति जिनस्यलिंगम्।
तज्जन्म चोक्तं हि निरर्थकं वौ श्रीकुन्थुनाम्ना वरसूरिणेति॥१०७

अर्थ—जो अज्ञानी वा आत्मज्ञानसे रहित पुरुष वैराग्य और आत्मज्ञानको धारण किए विना जिनलिंग धारण करता है उसका यह मनुष्यजन्म भी व्यर्थ ही जाता है ऐसा आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरने निरूपण किया है।

भावार्थ—जिनदीक्षा लेकर अर्थात् दिगंबर अवस्था धारण कर, पीछी कमण्डलु लेकर जो अट्ठाईस मूलगुणोंको धारण करता है उसको

जिनलिंग कहते हैं। यह जिनलिंग वैराग्य और आत्मज्ञान प्रगट होने पर ही धारण किया जाता है। विना वैराग्य और आत्मज्ञानके जिन-लिंग कभी धारण नहीं किया जा सकता। जो पुरुष किसी कषायके निमित्तसे वा अन्य किसी स्वार्थसे वैराग्य ज्ञानके विना ही जिनलिंग धारण कर लेते हैं, वे अवश्य ही अपने मनुष्यजन्मको व्यर्थ खोते हैं। क्योंकि ऐसे पुरुषोंके वस्त्रादिक तो छूट जाते हैं परंतु विषयवासनाएं वा कषायें नहीं छूटती। इसलिए उनको उस जिनलिंग धारण करनेका कोई फल प्राप्त नहीं होता। जिनलिंग धारण करनेका फल रत्नत्रयकी वृद्धि है परंतु विषय कषायोंके बने रहनेसे रत्नत्रयकी वृद्धि कभी हो ही नहीं सकती है। इसप्रकार जिनलिंगका फल उनको मिलता नहीं है। तथा वस्त्रादिकोंका त्याग कर देनेसे वे सांसारिक सुखोंसे भी वंचित रह जाते हैं। इस प्रकार वे इस लोक और परलोक दोनोंसे भ्रष्ट हो जाते हैं और बडी कठिनतासे प्राप्त हुए इस मनुष्य जन्मको व्यर्थ ही खो देते है। यदि कदाचित् वैराग्य और आत्मज्ञानके विना जिनलिंगको धारण करनेवाले पुरुष अपनी विषय कषायोंके निमित्तसे चारित्रसे गिर जाते है वा भ्रष्ट हो जाते हैं तो फिर संसारभरमें उनकी निंदा होती है और साथमें इस पवित्र जैन-धर्मकी भी निंदा होती है तथा इस अपने उस घोर पापसे वा जिनधर्मका अपवाद करानेसे वे नरक निगोदके पात्र होते हैं। इसलिये विना वैराग्य और आत्मज्ञानके कभी भी जिनलिंग धारण नहीं करना चाहिये। ऐसा उपदेश आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागर देते हैं।

इसप्रकार आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरविरचित सुधर्मोपदेशामृत-सारकी 'धर्मरत्न लालाराम शास्त्री विरचित भाषा टीकामें यह वैराग्यका उपदेश देनेवाला प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

दुसरा अध्याय.

स्वर्मोक्षदं पंचगुरुं प्रवंद्य स्वतत्त्वशून्यस्य पराश्रितस्य ।
तत्त्वोपदेशः क्रियते हितार्थं श्रीकुन्थुनाम्ना वरसूरिणाथ ॥१०८॥

अर्थ—अथानंतर- आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरस्वामी सबसे पहले स्वर्ग, मोक्षको देनेवाले अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांचों परमेष्ठियोंको नमस्कार करते हैं और फिर अपने आत्मज्ञान से सर्वथा रहित और शरीर तथा कर्मोंके आधीन रहनेवाले इस संसारी जीवका कल्याण करनेकेलिए यथार्थ तत्त्वोंका उपदेश देते हैं ॥१०८॥

आगे तत्त्वोंके जानने और न जाननेवालोंके चिन्ह बतलाते हैं।

प्रश्न—किं तत्त्ववेदिनश्चिन्हं वद मेऽतत्त्ववेदिनः ?

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब मुझे यह बतलाइये कि तत्त्वोंके जानकारोंका और तत्त्वोंको न जाननेवालोंका चिन्ह क्या है ?

उत्तर—नृदेहधारी पशुदेहधारी तथा सदा नारकिदेहधारी ।
स्वतत्त्वशून्यः सुरदेहधारी मत्वेति भीमेऽटति वै भवाब्धौ ॥१०९
नृदेहभिन्नः पशुदेहभिन्नस्ततथा सदा नारकिदेहभिन्नः ।
यस्तत्त्ववेदी सुरदेहभिन्नः सुमन्यमानो वसति स्वभावे ॥११०

अर्थ—इस संसारमें जो पुरुष आत्मज्ञानसे रहित हैं, वे समझते हैं कि मनुष्य शरीर को धारण करनेवाला मैं हूं पशुओंका शरीर धारण करनेवाला मैं हूं, नारकियोंका शरीर धारण करनेवाला मैं हूं और देवोंका शरीर धारण करनेवाला भी मैं हूं । यही समझ कर वह पुरुष इस अत्यंत भयंकर ऐसे संसाररूपी समुद्रमें सदाकाल परिभ्रमण किया

करता है। परतु जो भव्यपुरुप अपने आत्माके स्वरूपको जानता है वह समझता है कि इस मनुष्य-शरीरसे मैं सर्वथा भिन्न हू, इस पशुके शरीरसे भी मैं सर्वथा भिन्न हू, इस नारकीके शरीरसे भी मैं सर्वथा भिन्न हू और इस देवोंके शरीरसे भी मैं सर्वथा भिन्न हू ! इस प्रकार समझकर वह भव्यपुरुप सदाकाल अपने आत्माके स्वभावमें ही निवास किया करता है।

भावार्थ—जो पुरुप अपने आत्माके स्वभाव को जानते हैं उनका लक्षण वा चिन्ह यही है कि वे शरीर आदि परपदार्थोंको अपने आत्मा से सर्वथा भिन्न मानते है और इसीलिये उनमे कभी ममत्व नहीं करते। ऐसे पुरुप अपने आत्मामें ही सर्वथा लीन रहते हैं और इसीलिये वे अपने आत्माका कल्याण शीघ्र कर लेते है परतु जो पुरुप आत्मतत्त्वको नहीं जानते वे शरीरादिक परपदार्थोंको ही आत्मा मान लेते हैं और उनमें ही ममत्व कर उनके पालन-पोपण मे लगे रहते हैं और इस प्रकार महा अशुभ कर्मोंका बंध कर नरक निगोद आदि नीच गतियोंमें सदाकाल परिभ्रमण किया करते हैं। यही उन दोनोंका चिन्ह है ॥ १०९ - ११० ॥

आगे आत्मज्ञानी और आत्मज्ञानसे रहित पुरुप, स्त्री, पुत्रादिक को कैसा मानते हैं सो दिखलाते है।

प्रश्न—इतरः स्वात्मज्ञानी वा भार्यादिं मन्यते कथम् ?

अर्थ— अपने आत्माके स्वरूप को जाननेवाला और न जाननेवाला स्त्री पुत्रादिकको कैसा मानता है सो कृपाकर बतलाइये।

उत्तर–भार्यापि पुत्रोप्यहमेव बंधु. स्वामीति सर्वत्र च मन्यमानः ।
स्वतत्त्वशून्य. स्वपरात्मबोधा–भावाद्भवाब्धौ पततीह भीमे॥ १११
यस्तत्त्ववेदी स्वपरात्मबोधो भार्यापि बंधुस्तनयोपि नाहम् ।
सुमन्यमान सुखदे स्वभावे सिद्धालये तिष्ठति सर्वकालम् ॥ ११२

अर्थ—जो पुरुष अपने आत्मज्ञानसे रहित है वह यही समझता है कि मैं स्त्री हूं, मै पुत्र हूं, मै भाई हूं, मै स्वामी हूं, और मै ही दास हूं। इसप्रकार समझनेवाला पुरुष न तो आत्माके स्वरूपको जानता है और न पुद्गलादिक पर पदार्थोंका स्वरूप जानता है । वह स्वपर-भेदविज्ञानसे सर्वथा रहित होता है और इसीलिये वह इस भयानक संसाररूपी समुद्रमे पडकर सदाकाल परिभ्रमण किया करता है। परंतु जो भव्य पुरुष अपने आत्माके स्वरूपको जानता है तथा पुद्गलादिक परपदार्थोंके स्वरूपको भी जानता है वह तत्त्वज्ञानी पुरुष समझता है कि मैं न तो स्त्री हू, न पुत्र हू, और न भाई हूं। इसप्रकार अपने आत्माको शरीरादिकसे सर्वथा भिन्न मानता हुआ वह पुरुष सदाकाल सुखदेनेवाले सिद्धालयरूप अपने स्वभावमे निवास करता रहता है ।

भावार्थ—मै स्त्री हू, मै पुत्र हू, मै भाई हू, मै स्वामी हू यह सब कल्पना मिथ्या है । क्योंकि यह आत्मा स्त्री पर्यायरूप वा पुत्र पर्यायरूप वास्तवमें नहीं हो सकता । आत्मा आत्माही रहता है और स्त्री वा पुत्रपर्याय कर्मके उदयसे पुद्गल तथा अशुद्ध आत्मासे मिलकर बनती है । परंतु आत्माके यथार्थ स्वरूपको न जाननेवाला उसे आत्माही समझलेता है और इसीलिये वह अपने आत्माका कल्याण नहीं कर

सकता । आत्मतत्त्वको जाननेवाला भव्यपुरुष इन सब पर्यायोंको आत्मासे भिन्न मानता है अथवा इन सबसे अपने आत्माको भिन्न समझता है और इसीलिये वह इन सबसे ममत्वका त्याग कर अपने आत्माके कल्याणमें लग जाता है तथा शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ १११-११२ ॥

आगे आत्मज्ञानी और अनात्मज्ञानी शरीरादिकको कैसा मानता है यही दिखलाते हैं ।

प्रश्न—स्वपरज्ञानशून्यश्च तन्वादिं मन्यते कथम् ।

अर्थ—हे स्वामिन् अब यह बतलाइये कि जो न तो अपने आत्माके स्वरूपको जानता है और पुद्गलादिक परपदार्थोंके स्वरूपको जानता है वह शरीरादिकको कैसा मानता है ।

उत्तर—स्यान्निश्चयो मे भुवि देह एवास्म्यहं ह्यबोधादहमेव देहः ।
इत्येष मूढः खलु मन्यमानस्ततत्पोषणार्थं यतते यथेष्टम् ॥११३
भवामि नाहं च कदापि देहो देहोऽपि मद्रूपसमश्च न स्यात् ।
यस्तत्त्ववेदीति सुमन्यमानः स्यात्स्वात्मगुप्तश्च शशीव कान्त्याम् ११४

अर्थ—'यह शरीर ही मैं हूं और मैं ही शरीररूप हूं, यह मेरा ज्ञान अत्यंत निश्चयात्मक है । इसप्रकार अज्ञानी पुरुष अपने अज्ञानके कारण मानता है, तथा इसीलिये उस शरीरको पुष्ट करनेकेलिये अपनी इच्छानुसार सदाकाल प्रयत्न करता रहता है । परंतु जो भव्यपुरुष अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानता है वह यही मानता है कि मैं वा मेरा यह आत्मा कभी शरीर-रूप नहीं हो सकता और न यह पुद्गलरूप शरीर कभी आत्मरूप हो

सकता है। जिस प्रकार चांदनीसे चंद्रमा भिन्न है उसी प्रकार भव्य-जीव अपने गुप्त आत्माको शरीरादिकसे सर्वथा भिन्न मानता है।

भावार्थ—शरीर जड है और आत्मा चैतन्यस्वरूप वा ज्ञानमय है। जब यह जीव मर जाता है तब उसका शरीर तो यहा ही पडा रह जाता है और उसका आत्मा निकलकर किसी अन्य पर्यायमें चला जाता है। आत्माके निकल जानेसे ही फिर उस मृतक शरीरमें चेतना शक्ति वा ज्ञानशक्ति नहीं रहती। चेतनाशक्ति वा ज्ञानशक्तिके न रहने से ही फिर उस शरीरमे सुख दु.खका अनुभव नहीं होता। इन सब बातोंसे यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि यह शरीर आत्मासे सर्वथा भिन्न है तथा आत्मा भी शरीरसे सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार जो पुरुष आत्म के यथार्थस्वरूपको जान लेता है वह पुरुष अपने आत्माका कल्याण कर लेता है और जो पुरुष शरीर और आत्माको एक ही मानता रहता है वह पुरुष मिथ्याज्ञानी होनेके कारण तथा उस शरीरका-पालन-पोषण आदि मिथ्या क्रियाओके करनेके कारण ससार-सागरमें परिभ्रमण करता रहता है। यही समझकर आत्माके यथार्थ-स्वरूपको पहिचानना चाहिये और उसके कल्याण- करनेकेलिये शरीरादिकसे ममत्वका त्याग कर जप, तप वा आत्मध्यान में लग जाना चाहिये। यही मनुष्यजन्मका सार है ॥ ११३ - ११४ ॥

आगे आत्माको शरीररूप माननेवाले वा शरीररूप न माननेवाले कैसे होते है यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—यस्य देहात्मबुद्धिः स्यात्स जीवः कीदृशो वद ?

अर्थ—हे भगवन्! अब बतलाइये कि जिस पुरुषकी बुद्धि

शरीररूप ही होती है अर्थात् जो आत्माको शरीररूप ही मानता है वह कैसा है ।

उत्तर-यस्यास्ति जन्तोर्वपुरात्मबुद्धिर्यथार्थदृष्ट्या स खलश्च दुःखी।
यस्तत्त्वशून्यश्च्युतधर्मकर्मा मन्ये स दीनश्च सदेत्यभागी ११५
यस्यास्ति जन्तोश्च निजात्मशुबुद्धिर्यथार्थदृष्ट्या हि सुखी स धीर।
यस्तत्त्ववेदी निजधर्मलीनो मन्ये ततोहं भुवने स वीर ॥११६॥

अर्थ—जो पुरुप अपने शरीरको आत्मस्वरूप मानता है, वह पुरुष यथार्थ दृष्टिसे आत्मज्ञानसे रहित है, और इसीलिए वह दुष्ट है, दुःखी है और धर्मकर्मसे सर्वथा रहित है। हम लोग ऐसे पुरुषको दीन समझते है और अनंतकालतकके लिए भाग्यहीन समझते है । इसी-प्रकार जो पुरुप अपनी वुद्धिको आत्मस्वरूप ही मानता है । अर्थात् अपने आत्माको शरीरसे भिन्न मान्ता है वह यथार्थ दृष्टि से आत्मतत्त्व को जाननेवाला माना जाता है तथा सुखी माना जाता है, धीर, वीर माना जाता है और अपने आत्मधर्ममे लीन रहनेवाला माना जाता है। इस संसारमे हम लोग ऐसे ही पुरुषको वीर वा धीरवीर समझते हैं ।

भावार्थ—आत्मज्ञानसे रहित मनुष्य ही शरीरको आत्मा मानता है और इसीलिये मिथ्याज्ञान होनेके कारण वह संसारमे परिभ्रमण करता हुआ महादुःखी होता है । इसलिये इस मिथ्याज्ञान का त्याग कर आत्माका यथार्थ स्वरूप पहिचानना चाहिये और आत्माका यथार्थ स्वरूप जानकर उसका कल्याण कर लेना चाहिये ।

आगे शरीरको सुखदायी माननेवालोंका स्वरूप कहते हैं ।

प्रश्न-देहं सुखदं देव मन्यते स च कीदृश. ।

अर्थ—हे देव अब यह बतलाइये कि जो पुरुष इस शरीर को ही सुख देनेवाला मानता है वह कैसा है ?

उत्तर-स्वदेह एवास्ति सुखादिहेतु' मूर्खश्च मोहादिति मन्यमानः।
तद्रक्षणार्थं यतते तरां हि त्यक्त्वा स्वधर्मं निजसौख्यमूलम् ११७
ससारदुःखस्य च मुख्यहेतुः स्याद्देह एवेति सुमन्यमानः।
यस्तत्त्ववेदी तनुपोषणे न दक्षो भवेत्स्वात्मविचारणे च ॥११८॥

अर्थ—मूर्ख वा अज्ञानी पुरुष अपने आत्मासे उत्पन्न होनेवाले अनंतसुखका कारण ऐसे अपने आत्माके धर्मका तो त्याग कर देता है और अपने मोह की तीव्रताके कारण इस शरीरको ही समस्त सुखोंका कारण मान लेता है, तथा इसीकी रक्षा करनेके लिए निरतर प्रयत्न करता रहता है। परन्तु आत्मतत्त्वको जाननेवाला भव्य सम्यग्दृष्टि पुरुष इस शरीरको ही ससारके समस्त दुःखोंका मुख्यकारण मानता है और इसीलिये वह इस शरीरके पालन-पोषण की ओर ध्यान नहीं देता किंतु अपने आत्माके स्वरूपका विचार करने मे अपनी चतुरता दिखलाता रहता है।

भावार्थ—वास्तवमे देखा जाय तो इस ससारमे यह शरीर ही समस्त दुःखोंको देनेवाला है। इस शरीर को पालन पोषण करनेके लिये ही यह जीव अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करता है और उन पापोंके कारण नरक निगोदके दुःख सहन करता है। सम्यग्दृष्टिपुरुष ऐसा ही मानता है और ऐसा ही अनुभव करता है इसीलिये वह इस शरीरको अपने आत्मासे सर्वथा भिन्न समझकर इसके पालन पोषण करनेमें प्रयत्न नहीं करता किंतु अपने शुद्ध बुद्ध आत्माके

स्वरूप को चिन्तन करनेका ही सदाकाल प्रयत्न करता रहता है। मिथ्यादृष्टिपुरुष आत्मज्ञान न होनेके कारण इस शरीरको ही सुख देनेवाला मानलेता है और फिर इसके पालन पोषणके अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करता रहता है। इसलिये भव्य पुरुषोंको सबसे पहले आत्माके स्वरूपको जानना चाहिये और फिर उसीको शुद्ध करनेकेलिये वा उसके साथ लगे हुए कर्मोंको नाश करनेके लिये सदाकाल प्रयत्न करते रहना चाहिये। यही मार्ग आत्माका कल्याण करनेवाला है।

आगे अज्ञानी ही इन्द्रियसुखकी प्रशंसा करता है यह बतलाते हैं।

प्रश्न—**अक्षसौख्यप्रशंसां को कः करोति गुरो वद।**

अर्थ— हे स्वामिन् अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें इन्द्रियजन्य सुखोकी प्रशंसा कौन करता है।

उत्तर–चित्ताक्षसौख्येन विवचितो यः स तत्प्रशंसां सततं करोति।
लीनः प्रमूढःखलु तेषु मुक्त्वा भृगीव पद्मे निजजीवनाशाम्॥११९
यस्तत्त्ववेदी निजधर्मनिष्ठो ह्यवचितो यश्च मनोक्षसौख्यैः।
स तत्प्रशंसां न करोति धीरः स्वप्नेऽपि शक्रश्च यथा कुबुद्धेः १२०

अर्थ—जिस प्रकार भ्रमर अपने जीवनकी आशाको छोडकर कमलमें लीन होजाता है उसी प्रकार जो संसारी पुरुष इंद्रिय और मनके सुखोंसे ठगाया जाकर उन्हींमें सदा लीन रहता है वही अज्ञानी अथवा आत्माके स्वरूपको न जाननेवाला पुरुष इंद्रिय और मनके सुखोंकी प्रशंसा किया करता है। तथा जिस प्रकार इंद्र कभी भी कुबुद्धिकी वा मिथ्याज्ञानकी प्रशंसा नहीं करता, उसी प्रकार आत्माके स्वरूपको जाननेवाला और आत्माके उत्तम क्षमा आदि धर्मोंमें सदाकाल

लीन रहनेवाला जो पुरुष उन इंद्रिय और मनके सुखोंसे कभी ठगा नहीं जाता वह धीर वीर पुरुष स्वप्नमें भी कभी उन इंद्रिय और मनके सुखोंकी प्रशंसा नहीं करता।

इंद्रिय और मनके सुख इस जीवको सदाकाल दु.ख देनेवाले हैं। इन इंद्रियोके सुखोंमें लीन रहनेवाले जीव दोनों लोकोंमें अनेक प्रकार के दु.ख भोगते रहते हैं। देखो स्पर्शन इंद्रियके वशीभूत होनेके कारण ही हाथी अपनी स्वतंत्रतासे हाथ धो बैठता है और वध बंधनके अनेक दुःख भोगता है। रसना इंद्रियके वशीभूत हुई मछली अपना कंठ छिदाकर मर जाती है। घ्राण वा नासिका इंद्रियके वशीभूत हुआ भ्रमर कमलपर बैठ जाता है और कमलके मुदनेपर भी वहांसे नहीं उठता, कमलके मुद जानेपर उसीमें मर जाता है। चक्षु इंद्रियके वशीभूत हुए पतगे दीपकमें पडकर मर ही जाते है तथा श्रोत्र इंद्रियके वशीभूत हुए हिरण अपनी स्वतत्रता छोडकर खडे होजाते हैं और फिर उन्हीं वशी वजाने वाले व्याधोंके हाथसे मारे जाते है। इसप्रकार एक एक इन्द्रियके वशीभूत होनेवाले जीव ही जब इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें महादु ख भोगते हैं तो फिर पाचों इन्द्रियोंके वशीभूत होनेवाला यह मनुष्य कितने दु ख भोगता होगा इस बातको सर्वज्ञ ही जानते हैं। इसलिये भव्यजीवोंका कर्तव्य है कि वे इन पांचों इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग करें। न तो कभी इनका लोभ करें और न कभी इनकी प्रशंसा करें ॥११९-१२०॥

आगे मूर्ख और ज्ञानी अपना समय किस प्रकार व्यतीत करते है यही दिखाते है।

प्रश्न—मूर्खस्य ज्ञानिनः कालः कथं याति गुरो वद।

अर्थ— हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि मूर्ख और ज्ञानी पुरुष अपना अपना समय किस प्रकार व्यतीत करते हैं ?

उत्तर—निःसारवार्ता निजतत्त्वशून्यां सन्तापदात्रीं सततं प्रकुर्वन्।
अमूल्यकालं शिशुवद् वृथा हि हतात्मबुद्धिर्गमयत्यवश्यम् ॥१२१
निःसारवार्ता निजतत्त्ववेदी त्यक्त्वा प्रकुर्वन् निजतत्त्वचर्चाम्।
कालं स्वकीयं गमयत्यवश्यं लौकान्तिको वत्स! यथात्मतृप्तः १२२

अर्थ—हे वत्स! जिसप्रकार छोटा बालक अपने अमूल्य समयको खेल कूदमें व्यर्थ ही खो देता है उसी प्रकार जिसकी आत्मज्ञानरूपी बुद्धि नष्ट होगई है ऐसा अज्ञानी पुरुष इस संसारमें अनेक प्रकारके संताप उत्पन्न करनेवाली तथा अपने आत्मतत्त्वकी चर्चासे सर्वथा रहित ऐसी साररहित कथा कहानी अथवा इधर उधर की व्यर्थकी बातोंमें ही अपना अमूल्य समय व्यतीत कर देता है। तथा जिस प्रकार अपने आत्माके स्वरूपमें तृप्त रहनेवाले लौकान्तिक देव अपने आत्मतत्त्वकी चर्चामें ही अपना समस्त समय व्यतीत कर देते हैं उसी प्रकार आत्मतत्त्वको जाननेवाले पुरुष सार रहित इधर उधर की व्यर्थ बातोंका तो सर्वथा त्याग कर देते हैं और अपने आत्माके स्वरूप की चर्चामें ही अपना समस्त अमूल्य समय व्यतीत कर देते हैं।

भावार्थ—इस संसारमें बहुतसे तो मनुष्य ऐसे हैं जो दिनभर गप्पे उड़ाया करते हैं उन गप्पोंसे पारमार्थिक कार्य भी नहीं होता और कोई लौकिक कार्य भी सिद्ध नहीं होता। ऐसे पुरुषोंका समस्त जीवन व्यर्थ चला जाता है। बहुतसे मनुष्य लौकिक कार्योंमें ही लगे

रहते है, परलोक संबंधी कार्य कुछ करते ही नहीं। ऐसे मनुष्य भी रातदिन पाप उपार्जन करते रहते हैं। बहुतसे मनुष्य ऐसे है जो लौकिक कार्य भी करते रहते हैं और दान, पूजा आदि थोडा बहुत पारलौकिक कार्य भी करते है। परन्तु ऐसे मनुष्योका भी अधिक समय लौकिक कार्य वा पाप कार्योंमे ही जाता है। जिन मनुष्योको आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो जाता है ऐसे सम्यग्दृष्टिपुरुष अपना अधिक समय दान, पूजा वा आत्मतत्त्वकी चर्चामें ही लगा देते हैं तथा रत्नत्रयको धारण करनेवाले पुरुष अपना समग्र समय अपने आत्माके शुद्धस्वरूप के चिंतन में व्यतीत कर शीघ्र ही मोक्षकी प्राप्ति कर लेते हैं। अतएव भव्यपुरुषोंको अपना समय आत्मतत्त्वके चिंतनमें ही व्यतीत करना चाहिये। यही आत्मकल्याणका एक मात्र उपाय है ॥ १२१ - १२२ ॥

आगे पर-पदार्थोंके स्वरूपको अलभ्य कौन मानता है यही बतलाते है।

प्रश्न—दृष्ट्वेत्यन्यस्वरूप चालब्धं को मन्यते वद।

अर्थ—हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि परपदार्थके स्वरूपको देखकर उसे अलभ्य कौन मानता है ?

उत्तर-स्वतत्त्वशून्येन विलोक्यते यत् तत्तत्स्वरूप सकलं परेषाम्।
पूर्वं ह्यलब्धं हृदि मन्यमान तत्सेवनार्थं यतते यथेष्टम् ॥१२३॥
निजान्यरूपादिविदा हि यद् यद् रूप परेषां प्रविलोक्यते तत्।
अनन्तवार च मयेति दृष्टं विचार्य मुक्त्वा रमते स्वराज्ये ॥१२४॥

अर्थ—जो पुरुष अपने आत्मज्ञानसे सर्वथा रहित है, वह पर-पदार्थोंका जो जो स्वरूप देखता है उसको अपने हृदयमे सर्वथा अलब्ध

था पहले कभी न प्राप्त होनेवाला मानता है। और उसे पहले कभी प्राप्त न होनेवाला मानकर ही उसको सेवन करनेके लिए अपनी इच्छानुसार प्रयत्न करता है। परंतु जो पुरुष अपने आत्माका स्वरूप जानता है तथा पुद्गलादिक परपदार्थोंका स्वरूप जानता है वह परपदार्थोंके जो जो स्वरूप देखता है उन सबको अनंतवार प्राप्त हुए वा देखे हुए ही मानता है और यही विचार कर वह उन सबका त्याग कर देता है और अपने आत्माके शुद्धस्वरूप-स्वराज्यमें सदाकाल लीन बना रहता है।

भावार्थ—इस ससारमें परिभ्रमण करते हुए इस जीवको अनंतानंत काल व्यतीत होगया। इस समयमें इसने नरकमें भी अनंत बार जन्म लिया, स्वर्गमे भी अनंतवार जन्मलिया तथा मनुष्य और तिर्यंच योनिमें भी अनंतवार जन्म लिया। यह जीव दरिद्र भी हुआ, धनी भी हुआ, राजा महाराजा भी हुआ और अत्यंत सुंदर भी हुआ। संसारकी अनंतानत पुद्गलवर्गणाएं इसने अनतबार ही भोगी, कोई ऐसा पदार्थ शेष नहीं रहा है जो इस जीवने अनतबार प्राप्त न किया हो। ऐसी अवस्थामें कोई भी पदार्थ अलब्ध वा कभी प्राप्त न होनेवाला कभी नहीं कहा जा सकता। परतु इस बातको वही मान सकता है जो उन पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जानता है। और इसीलिये आत्मा और पुद्गलादिक परपदार्थोके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाला वह सम्यग्दृष्टिपुरुष उन समस्त पदार्थोंको वा भोगोपगोगोके साधनोंको अनंत बार प्राप्त होनेवाला मानता है तथा इसीकारणसे उन सबका त्याग कर देता है और कभी प्राप्त न होनेवाले अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमे लीन हो जाता है। जो पुरुष आत्माके स्वरूपको नहीं जानते और न पुद्गल

आदि पर पदार्थोंके स्वरूपको जानते हैं वे मिथ्याज्ञानी होनेके कारण प्रत्येक पुद्गलकी पर्यायोंको कभी प्राप्त न होनेवाली मान लेते हैं और इसीलिये उनको सेवन करनेकेलिये यथेष्ट प्रयत्न किया करते हैं, तथा अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न कर फिर संसारमें ही परिभ्रमण किया करते है। अतएव इन सब बातोंको समझकर भव्य जीवोंको परपदार्थोंका त्याग कर देना चाहिये और आत्मतत्त्वमें लीन हो जाना चाहिये। यही मोक्षका उपाय है ॥ १२३–१२४ ॥

आगे जो पुरुष आत्माको पुद्गलके द्वारा प्रेरित होना मानते है उनका स्वरूप कहते है ।

प्रश्न—**परेण प्रतिपाद्योस्मि ह्येवं को मन्यते गुरो ?**

अर्थ—हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि जो पुरुष इस आत्माको पुद्गलके द्वारा प्रेरित होना मानते हैं वे कौन हैं ?

उत्तर-**मया परोय प्रतिपाद्यते च परेण चाहं प्रतिपादितोस्मि ।**
भवस्यबोधादिति मन्यमानः शठ. स संकल्पविकल्पकर्ता १२५
मया परो न प्रतिपाद्यते क्वौ परेण नाहं प्रतिपदितोस्मि ।
स्वात्तत्त्ववेदीति सुमन्यमानः समस्तसंकल्पविकल्पहन्ता ॥१२६॥

अर्थ—इस संसारमें मैं अन्य पुद्गलादिक पदार्थोंको प्रेरणा करता हूं और पुद्गलादिक पदार्थ मुझे प्रेरणा करते है । इस प्रक.र अपने अज्ञानके कारण जो मानता है वह मूर्ख है और अनेक प्रकारके संकल्प विकल्पोंका कर्ता कहा जाता है । परंतु जो आत्माके स्वरूपको जानता है वह यही मानता है कि न तो मैं किसी पुद्गलादिकको प्रेरणा कर सकता हूं और न पुद्गल ही मेरे लिए कुछ प्रेरणा कर सकता है। तथा

इसी प्रकार माननेके कारण वह समस्त संकल्पविकल्पोको नाश करनेवाला माना जाता है।

भावार्थ—यह ससारी आत्मा जब कोई काम करता है किसी घडे को इस स्थानसे उठाकर दूसरे स्थानपर रख देता है अथवा किसी गाडीको ढकेलकर दूसरे स्थानपर पहुंचा देता है या मकान बना लेता है वा अन्य कोई भी काम कर लेता है तो वह समझता है कि यह काम मैने वा मेरे आत्माने किया है वास्तवमे देखा जाय तो आत्मा कोई काम नहीं करता. पुद्गलका बना हुआ यह शरीर ही सब काम करता है। इसीप्रकार जब यह ससारी जीव किसी गाडीमे बैठकर किसी दूसरे स्थानपर पहुच जाता है तो समझता है कि इस गाडीने मुझे यहा पहुंचा दिया। परतु वास्तवमे देखा तो गाडी शरीरको पहुचाती है आत्माको तो कभी कोई पकड ही नहीं सकता। इसलिये कहना चाहिये कि इस जीवकी जो ऐसी विपरीतरूप बुद्धि होरही है वह उसके अज्ञानके कारण होरही है और इसीलिये आचार्योने उसे अज्ञानी वा मूर्ख बतलाया है। जो मूर्ख पुरुष इस प्रकार मानता है वह पुरुष इस ससारमे अनेक प्रकारके सकल्प विकल्प किया करता है। वह समझता है कि यह मकान मैने बनाया है इसलिये मेरा है। मैं इसका स्वामी हू। यह पुत्र मैने उत्पन्न किया है इसलिये यह पुत्र मेरा है मे इसका पिता हू। इस प्रकार अनेक पकारके संकल्प विकल्प करता है तथा इन सकल्प विकल्पोके ही कारण उनसे मोह करता है और मोहके कारण अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करता हुआ नरक निगोदादिकमे परिभ्रमण करता है। परंतु जो आत्माके यथार्थ स्वरू-

पको जानता है वह कर्म शरीर आदि समस्त पुद्गलोंको अपने शुद्ध आत्मासे भिन्न मानता है तथा आत्माको उन सब पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न मानता है और इसीलिये वह न तो पुद्गलके कार्यमें आत्माका संकल्प करता और न आत्मामें किसी पुद्गलका संकल्प-विकल्प करता है । वह तो आत्माको आत्मा समझता है और पुद्गलको पुद्गल समझता है। इसी लिये वह किसी कर्मसे वद्ध नहीं होता। अत एव सम्यग्दृष्टि भव्यपुरुषोंको अपने आत्माका स्वरूप समझकर किसी भी परपदार्थसे मोह नहीं करना चाहिये। समस्त परपदार्थोंमें होनेवाले सकल्पविकल्पका त्यागकर अपने आत्मामे लीन हो जाना चाहिये । यही कर्मोंके नाश करनेका और मोक्ष प्राप्त करनेका उपाय है ॥ १२५ - १२६ ॥

आगे त्याग और ग्रहण करनेवालेको कहते हैं ।

प्रश्न—**त्यागग्रहणचिन्तां च कः करोति विभो वद ?**

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें त्याग करनेकी और ग्रहण करनेकी चिंता कौन करता है।

उत्तर-**त्यजामि गृह्णामि परं स्ववस्तु मिथ्याग्रहैर्ग्रस्तजनः सदेति ।**
तदेव कर्तुं यतते प्रमुक्त्वा स्वानन्ददं स्वात्मपदं पवित्रम् ॥१२७॥
आदौ गृहीतं किमपि स्ववस्तु योग्यं गृहीतं हृदि मन्यमानः ।
त्यागस्य चिन्तां ग्रहणस्य मुक्त्वा यस्तत्त्ववेदी रमते स्वभावे ॥१२८

अर्थ—जो पुरुष अनेक प्रकारके मिथ्या आग्रहोंसे ग्रसित हैं वे पुरुष अपने आत्मजन्य अनंतसुखको देनेवाले और परमपवित्र ऐसे आत्माके शुद्धस्वरूपका तो त्याग कर देते हैं और फिर "मैं परपदार्थोंका त्याग करता हूं और अपने आत्मतत्त्वको ग्रहण करता हूं" इस

प्रकारका चिंतन करते हुए त्याग वा ग्रहण करनेका प्रयत्न करते रहते हैं। परंतु जो पुरुष किसी भी मिथ्या आग्रहसे ग्रसित नहीं है वह सबसे पहले अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको ही ग्रहण करता है और फिर "मैंने जो यह अपने आत्माका शुद्धस्वरूप ग्रहण किया है वह बहुत ही योग्य और उत्तम है" इसप्रकार मानता है और इसीलिये वह न तो किसी के त्याग करनेकी चिन्ता करता है और न किसीके ग्रहण करनेकी चिन्ता करता है त्याग वा ग्रहण सब प्रकारकी चिंताओंको छोडकर आत्मतत्त्वको जाननेवाला वह भव्यपुरुष केवल अपने आत्माके स्वभावमें ही लीन रहता है।

भावार्थ—जब तक यह जीव त्याग और ग्रहण की चिन्तामें लगा रहता है तब तक वह उस चिन्तामें ही मग्न रहता है। त्याग वा ग्रहण की चिन्ता करनेवाला आत्माके शुद्ध स्वरूपको नहीं प्राप्त कर सकता। जो पुरुष परपदार्थका सर्वथा त्यागकर आत्माके शुद्ध स्वरूपको ग्रहण करलेता है वही पुरुष इस चिन्तासे छूट जाता है और वही पुरुष अपने आत्माके शुद्ध स्वभावमें लीन होकर तथा समस्त कर्मोका नाश कर उसी अपने आत्माके शुद्ध स्वभावमें सदाकाल निमग्न बना रहता है अतएव आत्माके शुद्धस्वरूपको ग्रहण करलेना ही प्रत्येक भव्यजीवका कर्तव्य है और यही आत्माके लिये कल्याणकारी है ॥ १२७ । १२८ ॥

आगे ज्ञानी वा अज्ञानी पुरुष आत्माकी सत्ता कहा मानते हैं यह बतलाते हैं।

प्रश्न—स्वात्मानं मन्यते मूढः क्व वा ज्ञानी प्रभो वद।

अर्थ—हे स्वामिन् अब यह बतलाइये कि ज्ञानी पुरुष आत्माकी सत्ता कहा मानता है और अज्ञानी पुरुप आत्माकी सत्ता कहा मानता है ?

उत्तर–स्वात्मा सदा तिष्ठति मे शरीरे स्वतत्त्वशून्यः किलमन्यमानः।
तद्रक्षणार्थं विषमन्यथादं करोति पापं प्रविहाय नीतिम् ॥१२९॥
यस्तत्त्ववेघात्मनि शुद्धबुद्ध· स्वात्मा सदा तिष्ठति शुद्ध एव ।
सुमन्यमानः स्वसुखं प्रभुंजन् प्रत्यक्षमेव प्रतिभाति देवः ॥१३०॥

अर्थ—जो पुरुष आत्मतत्त्व को नहीं जानता वह यही समझता है कि यह मेरा आत्मा सदाकाल शरीरमें ही रहता है। तथा इस प्रकार मानकर वह अपनी नीति वा धर्मका तो त्याग कर देता है और शरीर की रक्षा करनेके लिए अत्यत भयंकर और महादुःख देनेवाले अनेक प्रकारके पापोंको उत्पन्न करता रहता है। परतु जो पुरुष आत्मतत्त्वके यथार्थस्वरूपको जानता है वह यही मानता है कि यह मेरा शुद्ध बुद्ध आत्मा सदाकाल अपने शुद्ध आत्मामें ही विराजमान रहता है । तथा इस प्रकार मानता हुआ वह आत्मजन्य अतींद्रिय सुखका अनुभव करता रहता है और इस प्रकार वह प्रत्यक्ष अरहतदेवके समान सुशोभित होता है।

भावार्थ—आत्मा एक अलग पदार्थ है तथा शरीर पुद्गलद्रव्य है। पुद्गल अपने प्रदेशोंमें रहता है और चैतन्यमय आत्मा अपने प्रदेशोंमे रहता है। यद्यपि ऊपरसे आत्मा और शरीर मिले हुए दिखाई पड़ते हैं तथापि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है। अतएव शरीरको आत्माका आधार मानकर उसकी रक्षा करना और उसकी रक्षाके लिए अनेक

प्रकारके पाप उत्पन्न करना अज्ञानता है। भव्यजीवोंको इस अज्ञानता का त्याग कर देना चाहिये और आत्माको भिन्न पदार्थ मानकर उसके शुद्ध करनेका प्रयत्न करना चाहिये। वास्तवमे देखा जाय तो यह शरीर ही आत्माकी शुद्धताको रोकता है। जब तक यह शरीर रहता है तबतक आत्मा अत्यत शुद्ध कभी हो नहीं सकता। इसलिए इस शरीरको तथा शरीरको उत्पन्न करनेवाले कर्मोको सर्वथा नाश करनेका प्रयत्न करना चाहिये यही आत्माके कल्याणका साधन है। १२९-१३०।

आगे किसका परिश्रम सफल वा निष्फल होता है यह दिखलाते हैं।

प्रश्न—परिश्रमश्च कस्य स्यात्सफलं विफलं वद ?

अर्थ—हे स्वामिन ! इस ससारमें किसका परिश्रम सफल माना जाता है और किसका परिश्रम निष्फल माना जाता है कृपाकर यह बतलाइये।

उत्तर-जडे शरीरे प्रविलोकनार्थं निजस्वरूपं यतते प्रमूढः।
निजस्वरूपस्य तथाप्यलाभात् परिश्रमः स्याद्विफलश्च तस्य १३१
चैतन्यरूपं परभावभिन्नं चैतन्यरूपे प्रविलोकनार्थम्।
यस्तत्त्ववेदी यतते ततश्च परिश्रमः स्यात्सफलो हि तस्य १३२

अर्थ—जो पुरुष अपने आत्माके स्वरूपको इस जडशरीरमें देखनेका प्रयत्न करता है वह मूर्ख है। उसको इस जड शरीरमें आत्माका स्वरूप कभी प्राप्त नहीं होता। इसलिये उसका यह परिश्रम सर्वथा निष्फल हो जाता है। परंतु जो पुरुष पुद्गलादिक परभावोंसे सर्वथा भिन्न ऐसे अपने चैतन्यमय आत्माको अपने चैतन्यस्वरूप आत्मामें ही देखनेका प्रयत्न करता है वह आत्मतत्त्वको जाननेवाला कहलाता

है और उसका वह परिश्रम सर्वथा सफल हो जाता है।

भावार्थ—जो पुरुष आत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते वे घोर तपश्चरण करते हुए भी इस शरीरमें ही आत्मतत्त्वको देखनेका वा जाननेका प्रयत्न करते हैं। परंतु शरीर जड है, आत्मतत्त्वसे सर्वथा भिन्न है, इसलिये उसमें आत्माकी प्राप्ति कभी भी नहीं हो सकती अत एव ऐसे पुरुषोंका वह घोर तपश्चरणका परिश्रम भी व्यर्थ होजाता है। परंतु जो पुरुष आत्माके स्वरूपको जानते हैं, उस आत्माको शरीरादिक परपदार्थोंसे सर्वथा भिन्न समझते हैं आत्माको चैतन्यमय, ज्ञानमय जानते हैं और शरीरको जड समझते हैं वे पुरुष शरीरकी ओर ध्यान ही नहीं देते। वे तो शरीरको त्याज्य और दुःख देनेवाला तथा आत्माका अकल्याण करनेवाला समझते हैं। इसी लिये वे भव्य-पुरुष उस अपने आत्माको आत्मामें ही देखनेका प्रयत्न करते हैं। वे समझते हैं कि इस आत्माके वास्तविक स्वरूप को कर्मोंने ढक रक्खा है। जब तक ये कर्म नष्ट नहीं होंगे तब तक उसका वास्तविक स्वरूप कभी प्रकट नहीं होगा। इसलिये आत्मतत्त्वको जाननेवाले पुरुष सबसे पहले कर्मोंके नाश करनेका प्रयत्न करते हैं। कर्मोंमें भी सबसे प्रबल मोहनीय है, और मोहनीयमें भी आत्माके यथार्थस्वरूपको ढकनेवाला दर्शनमोहनीय है। इसलिये वे भव्यपुरुष सबसे पहले दर्शनमोहनीय कर्मको नाश करनेका प्रयत्न करते हैं। दर्शनमोहनीय के नष्ट होनेपर चारित्र मोहनीयको नष्ट करनेका प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार जब उनका मोहनीय कर्म नष्ट हो जाता है वा शांत हो जाता है तब उनका शुद्ध आत्मा अपने आप प्रकट हो जाता है, और इस प्रकार

उनका समस्त परिश्रम सफल हो जाता है। अत एव अपना परिश्रम सफल बनानेके लिए सबसे पहले मोहनीयकर्मको नाश करने का प्रयत्न करना चाहिए, यही मोक्षका उपाय है ॥ १३१-१३२ ॥

आगे इस अपने आत्माके स्वरूपको जो स्वसंवेद्य [अपने ही अनुभवके द्वारा जानने योग्य] मानते हैं वा जो नहीं मानते वे कैसे हैं यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—**स्वसंवेद्य निजात्मानं मन्यते वा न कीदृशः ?**

अर्थ—हे स्वामिन्! जो पुरुष अपने आत्माको अपने ही अनुभव के द्वारा जानने योग्य मानता है वह कैसा तथा इस प्रकार जो नहीं मानना है वह कैसा है।

पंचाक्षरूपोऽस्मि तथान्यवेद्यो नाहं स्वसंवेद्य इति प्रमूढः।
स्यान्मन्यमानश्च खलस्तदर्थं करोति पापं परिहाय लज्जाम् ॥
पंचाक्षरूपश्च कदापि नाहं सदा स्वसंवेदनतः प्रगम्य.।
यस्तत्त्ववेदीति सुमन्यमानोऽक्षातीतसौख्ये भवति प्रलीनः १३४

अर्थ—जो पुरुष आत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानता वह अज्ञानी पुरुष यही समझता है कि मैं शरीररूप वा पाचों इद्रियरूप हूं, तथा मैं अन्यजीवोंके द्वारा जाना जाता हूं, मै अपने आत्माको स्वयं नहीं जान सकता। इस प्रकार मानता हुआ वह दुष्ट पुरुष अपनी लज्जाका तो त्याग कर देता है और उन इद्रियोकी पुष्टिके लिए अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करता रहता है। परंतु जो आत्माके यथार्थ स्वरूप को जानता है वह यही समझता है कि मैं इद्रियस्वरूप कभी नहीं हो सकता मैं ज्ञानमय हू और स्वसंवेदनसे (मैं सुखी हू ज्ञानी हू इसप्रकार

के अपने अनुभवरूप ज्ञानसे) ही जाना जाता हूं । इसप्रकार मानता हुआ वह अतीन्द्रिय सुखमें ही सदा लीन बना रहता है ।

भावार्थ— जिस प्रकार दीपक अन्य पदार्थोंको प्रकाशित करता है और अपने स्वरूप को भी प्रकाशित करता है । जलते हुए दीपकको देखनेके लिए किसी अन्य दीपकको देखनेकी आवश्यकता नहीं होती । वही जलता हुआ दीपक अपने स्वरूपको भी प्रकाशित कर देता है । इसी प्रकार यह ज्ञानमय आत्मा अपने ज्ञानसे अन्य पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है और स्वानुभूतिके द्वारा अपने स्वरूपको भी प्रकाशित करता है । आत्माके अनुभवको स्वानुभूति कहते हैं और अनुभव ज्ञानको कहते है । इस प्रकार ज्ञानमय आत्माका स्वरूप अपने ही अनुभवरूप ज्ञानके द्वारा जाना जाता है जिस प्रकार दीपक स्वपर प्रकाशक है उसी प्रकार यह ज्ञानमय आत्मा भी स्वपर प्रकाशक है । जो पुरुष आत्माके यथार्थ स्वरूप को जानते हैं वे इसी प्रकार मानते है आत्मा अमूर्त है इस-लिये वह इन्द्रियोंके द्वारा कभी नहीं जाना जा सकता । इन्द्रियोंके द्वारा तो मूर्त स्थूल पदार्थोंका ही ज्ञान होता है इन्द्रियोंके द्वारा मूर्त सूक्ष्म पदार्थोंका भी ज्ञान नहीं हो सकता फिर भला उन इन्द्रियोंसे अमूर्त आत्माका ज्ञान कैसे हो सकता है । अत एव आत्माका स्वरूप स्वसवेद्य है इसमें किसी प्रकारका सदेह नहीं है । जो लोग इस प्रकार आत्माके यथार्थ स्वरूपको मानते हैं वे आत्मजन्य यथार्थ सुखका अनुभव करते हैं और जो नहीं मानते वे इन्द्रियोंके वशीभूत होकर अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करते रहते हैं । अत एव भव्यजीवोंका कर्तव्य है कि वे

आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानकर अतीन्द्रिय सुखका अनुभव करें और इन्द्रियोंके विषयोंका त्यागकर आत्माको नरक निगोदके दुःखोंसे बचावें ॥ १३३-१३४ ॥

आगे ज्ञानी वा अज्ञानी किसको मित्र वा शत्रु मानते हैं यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—मन्यते कं रिपुं मित्रं मूर्खः सुज्ञः प्रभो वद।

अर्थ—हे स्वामिन् अब कृपाकर यह बतलाइये कि अज्ञानी पुरुष किसको मित्र और किसको शत्रु मानता है तथा ज्ञानी पुरुष किसको मित्र और किसको शत्रु मानता है ?

उत्तर—स्वतत्त्वशून्यो बहिरेव मित्रं मत्वा रिपुं सौख्यकरं व्यथादम्।
तन्मारणार्थं च सुरक्षणार्थं त्यक्त्वा सुकृत्यं यतते ह्यभागी ॥१३५
स्वतत्त्ववेदीह विभावभावं मत्वा खलं शत्रुसमं व्यथादम्।
मित्रं स्वभावं सुखदं च मत्वा करोति भाषां खलु तेन सार्द्धम्१३६

अर्थ—जो पुरुष आत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानता वह बाहरसे सुख देनेवाले पुरुषोंको मित्र मान लेता है और बाहरसे दुःख देनेवाले पुरुषोंको शत्रु मान लेता है। तथा इस प्रकार मानकर वह भाग्यहीन पुरुष अपने आत्माके कल्याण करने योग्य-कार्योंका तो त्याग कर देता है और उन शत्रुओंको मारनेका प्रयत्न करता है तथा मित्रों की रक्षा करनेका प्रयत्न करता है। परंतु जो पुरुष आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानता है वह पुरुष शत्रुके समान महादुःख देनेवाले अपने दुष्ट विभाव भावोंको ही शत्रु मानता है। तथा अनंत अतींद्रियसुख देनेवाले आत्माके स्वभावको ही मित्र मानता है। और फिर वह उसी अपने आत्माके स्वभावके साथ बातचीत करता है।

भावार्थ—इस जीवको जो सुख वा दुःख प्राप्त होता है वह अपने अपने कर्मोंके उदयसे प्राप्त होता है। शुभ कर्मोंके उदयसे सुख प्राप्त होता है और अशुभ कर्मोंके उदयसे दुःख प्राप्त होता है। तथा उन कर्मोका बंध कषायादिक परिणामोंसे होता है, और कषायादिक परिणाम आत्माके विभावभाव कहलाते है। यदि आत्मामे क्रोधादिक विभावभाव उत्पन्न न हों तो उस आत्माके कभी भी कर्मोंका बंध नहीं हो सकता। तथा विना कर्मबंध के उनका उदय होना असंभव है। इस लिए कहना चाहिए कि इस संसारमे जो बाह्यसुख दुःख होता है उसका मूल कारण आत्माके विभाव भाव है। उन विभाव भावोंसे बंधनबद्ध होनेवाले कर्मोंके उदयसे ही सुख दुःख होता है परंतु उस सुख वा दुःखमें निमित्तकारण अन्य पुरुष पड जाते हैं जो पुरुष आत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानता वह सुखमें निमित्तकारण होनेवाले पुरुषको मित्र मान लेता है और दुःखमें निमित्तकारण होनेवाले पुरुषको शत्रु मान लेता है। जिस प्रकार कोई पुरुष किसी कुत्तेको मारनेके लिये ईंट फेकता है और दूसरा कोई पुरुष सिंहको मारनेके लिये ईंट फेकता है, परंतु कुत्ता ईंटकी ओर दौडता है और सिंह मारनेवाले की ओर दौडता है। इसीप्रकार आत्माके स्वरूपको जाननेवाला पुरुष अनंत अतीन्द्रिय सुखको देनेवाले स्वभावको ही मित्र मानता है और फिर वह उसीको अपना स्वरूप समझकर उसीमें लीन हो जाता है। तथा विभाव परिणामोको शत्रु समझकर उनका सर्वथा त्याग कर देता है। आत्मज्ञानी पुरुष कर्मोंके उदयमें निमित्त कारण पडनेवाले पुरुषोंकी ओर कभी ध्यान नहीं देता और न वह कर्मोंके

उदयकी ओर ध्यान देता है। वह तो सीधा विभावपरिणामोंको नाश करनेका प्रयत्न करता है। तथा उनका नाश कर आत्माके स्वभावमें लीन हो जाता है ॥ १३५-१३६ ॥

आगे—आत्मज्ञानी और अनात्मज्ञानी का कार्य दिखलाते हैं।

प्रश्न—अतत्त्वज्ञोऽथ तत्त्वज्ञः किं करोति प्रभो वद ?

अर्थ—हे स्वामिन् अब यह बतलाइये कि आत्मतत्त्वको जानने-वाला क्या करता है और आत्मतत्त्वको न जाननेवाला क्या करता है ?

उत्तर-अजानमानश्च निजस्वभावं मूर्खः सदा हर्षविषादभावम्।
कुर्वन्नकृत्यं विषमं स्पृहोत्थं तद्दोषतः श्वभ्रगतिं प्रयाति ॥ १३७॥
स्वतत्त्ववेदीति निजस्वभावं जानन् यथावत्परभावाभिन्नम् ।
त्यक्त्वा ध्रुवं हर्षविषादभावं शुद्धे स्वभावे रमते च धीरः ।१३८।

अर्थ—जो पुरुष अपने आत्माके स्वभावको नहीं जानता वह अज्ञानी पुरुष सदाकाल हर्षविषाद करता रहता है तथा अपनी इच्छासे उत्पन्न होनेवाले अनेक भयंकर न करनेयोग्य कार्योंको करता रहता है और इसी भयंकर दोषके कारण वह नरकगतिको प्राप्त होता है। परंतु जो पुरुष आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानता है और जो उस अपने आत्माके यथार्थ स्वभावको कषायादिक परभावोंसे सर्वथा भिन्न मानता है वह ज्ञानी पुरुष हर्ष विषादका सर्वथा त्याग कर देता है और फिर वह धीरवीर पुरुष अपने आत्माके शुद्ध स्वभावमें सदाकाल लीन बना रहता है।

भावार्थ—हर्ष विषाद दोनों ही आत्माके विभाव भाव हैं। तथा इन हर्ष विषादके ही कारण यह संसारी आत्मा अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करता रहता है। हर्ष मनाते समय अनेक प्रकारके उत्सव करता

है और उन उत्सवोमे अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न कर नरकादिक दुर्गतियोमे परिभ्रमण करता है । इसी प्रकार जब इस जीवके विषादरूप परिणाम हो जाते हैं तब वह अनेक प्रकार के कुत्सित संकल्प-विकल्प कर वा दूसरोका अशुभ चिन्तवन कर महापाप उत्पन्न करता है और इस प्रकार ससार में परिभ्रमण कर दुर्गातियोंके दु ख भोगता रहता है । वास्तव में देखा जाय तो हर्ष विषाद दोनो ही कर्मोंके उदयसे होते हैं और इसी लिए दोनो ही आत्मासे सर्वथा भिन्न है। आत्माके यथार्थ स्वभावको जाननेवाला पुरुष इन को पर ही मानता है और इसीलिए इनका सर्वथा त्याग कर अपने आत्माके स्वभाव में ही लीन रहता है । यही संसारके दुखों से बचने का और आत्मजन्य अतींद्रिय सुख की प्राप्ति का उपाय है ॥१३७-१३८॥

आगे आत्माके भेदोंको जाननेवाला और न जाननेवाला क्या करता है सो कहते हैं।

प्रश्न—**ज्ञात्वा त्रिविधमात्मानमज्ञात्वा वा करोति किम् ।**

अर्थ— हे गुरो अब यह बतलाइये कि तीनो प्रकार के आत्माके स्वरूपको जाननेवाला क्या करता है और न जाननेवाला क्या करता है?

उत्तर—**योऽजानमानो बहिरन्तरात्मभेदं प्रमोहात्परमात्मरूपम् ।**
अत्यंतनिंद्यां कुकृतिं प्रकुर्वन् उन्मत्त एव प्रतिभाति मूढ.।१३९।
यस्तत्ववेदी त्रिविधात्मभेदं जानन् यथावद्बहिरात्मबुद्धिम् ।
त्यक्त्वा द्वितीये निवसन् तृतीयं दृष्ट्वा कृतीन्द्रो यततेऽतिशुद्धम्

अर्थ—जो पुरुष मोहनीय कर्म की तीव्रता से बहिरात्मा अंत-

रात्मा और परमात्मा इन आत्माके तीनो भेदों को नहीं जानता है वह पुरुष उन्मत्त पुरुषके समान अत्यत निंदनीय कार्योको किया करता है और ससारमे मूर्ख कहलाता है । परन्तु जो पुरुष इन तीनों प्रकारके आत्माके स्वरूपको जानता है वह पुरुष बहिरात्म-बुद्धिका त्याग कर देता है। अंतरात्मामें निवास करता है और फिर वह उत्तम पुण्यवान् पुरुष अत्यत शुद्ध ऐसे परमात्माको देखनेका प्रयत्न करता है ।

भावार्थ—आत्माके तीन भेद हैं । बहिरात्मा अंतरात्मा और परमात्मा । जो जीव शरीर और आत्माको एक ही समझता है उसे बहिरात्मा कहते हैं जो जीव शरीरको भिन्न समझता है और चैतन्य-मय आत्माको उस शरीरसे सर्वथा भिन्न समझता है उसको अंतरात्मा कहते है । तथा जो जीव घातिया कर्मोको सर्वथा नाश कर देता है अथवा समस्त आठों कर्मोको नष्ट कर देता है उसको परमात्मा कहते है। इनमें बहिरात्मा हेय है अर्थात् आत्मा और शरीरको एक ही माननेवाली बुद्धि त्याज्य है क्योंकि वह मिथ्या बुद्धि है । शरीर, आत्मा कभी एक नहीं हो सकता। शरीर जड है और आत्मा चैतन्यमय वा ज्ञानमय है । इस लिए शरीर और आत्माको एक ही माननेवाली बुद्धि सर्वथा मिथ्या है । जो जीव इन भेदोको नहीं जानता वह बहिरात्म बुद्धिका त्याग नहीं कर सकता और इसीलिए वह आत्माके कल्याणके कार्योको तो छोड देता है और शरीरको सुख देनेके लिए अनेक प्रकार के पाप उत्पन्न करता रहता है, जिनसे कि वह सदाकाल ससारमे परिभ्रमण किया करता है। परतु जो पुरुष इस आत्माके यथार्थ भेदोको

जानता है वह त्याग करनेयोग्य बहिरात्मबुद्धिका त्याग कर देता है और अंतरात्मा बनकर परमात्मा बननेका प्रयत्न करता है। अतएव प्रत्येक भव्य जीवका कर्तव्य है कि वह बहिरात्मबुद्धिका त्याग कर अन्तरात्मा बने तथा अन्तरात्मा बनकर परमात्मा बननेका प्रयत्न करे। क्योंकि परमात्मा ही आत्माका सर्वोत्कृष्ट कल्याण है।

आगे चेतन और अचेतन पदार्थोंको कौन जानता है और कौन नहीं जानता यही दिखलाते हैं।

यस्तत्त्वशून्यश्चिदचेतनादे-श्चिन्हं न जानन् निजवस्तुनोपि।
ततः प्रमादी परलोककार्ये भवत्यवश्य भवदुःखपात्रम् ॥१४१
यस्तत्त्ववेदी चिदचेतनादे-श्चिन्हं यथावत्सुखदं च बुद्ध्वा।
अचेतनं वा प्रविहाय वस्तु करोति चैतन्यगृहे निवासम् ॥१४२

अर्थ—जो पुरुष अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानता है वह चेतनात्मक वा अचेतनात्मक किसी भी पदार्थका यथार्थ स्वरूप नहीं जानता है। यहांतक कि वह अपना स्वरूप भी नहीं जानता है। तथा इसी लिये वह परलोक के कार्योंमें अत्यंत प्रमादी बन जाता है और फिर उसे अवश्य ही संसारके अनेक दुःखोंका पात्र बन जाना पड़ता है। परंतु जो पुरुष अपने आत्माके यथार्थ स्वरूप को जानता है वह चेतन वा अचेतन के सुख देनेवाले चिन्होंको भी अच्छी तरह जानता है तथा उनको जानकर शरीरादिक अचेतन पदार्थोंका त्याग कर देता है और अपने चैतन्यमय आत्मामें सदाकाल निवास करता रहता है।

भावार्थ—आत्माका कल्याण करनेवाला स्वपरभेदविज्ञान है।

अपने आत्माका और आत्माके साथ मिले हुए कर्म वा शरीर आदि पर पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप जानकर अथवा जीव अजीव आदि समस्त पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप जानकर कर्म वा शरीरसे अपने आत्माको सर्वथा भिन्न मानना तथा आत्मा के साथ मिले हुए कर्म वा शरीर को उस अपने आत्मासे भिन्न करनेका प्रयत्न करना वा अपने आत्माको उन सबसे अलग करलेने का प्रयत्न करना स्वपरभेदविज्ञानका तात्पर्य है। जो पुरुष अपने आत्माका यथर्थ स्वरूप जान लेता है वह आत्मा से भिन्न कर्मादिक वा शरीरादिकका भी स्वरूप जान लेता है। तथा दोनों का स्वरूप जानकर वह अचेतन रूप कर्मों को नष्ट करनेका प्रयत्न करता है और अपने शुद्ध आत्मामें लीन होने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार वह अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। परंतु जो पुरुष अपने आत्मा का स्वरूप नहीं जानता वह कर्म वा शरीरादिक का स्वरूप भी नहीं जान सकता और फिर वह न तो कभी कर्मों को नष्ट कर सकता है और न कभी आत्मा का कल्याण कर सकता है। आत्मा को न जाननेवाला वह पुरुष सदाकाल नरक निगोद आदि दुर्गतियों मे ही परिभ्रमण किया करता है। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको जाननेका प्रयत्न करना चाहिए और उसके लिये जैन शास्त्रोंका पठन पाठन करना चाहिये। यही उसके कल्याण का मार्ग है ।१४१-१४२।

आगे ज्ञानी और अज्ञानीको कहा अच्छा लगता है यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—मूर्खः क्व रमते स्वामिन्नात्मज्ञो वा प्रभो वद ?

अर्थ—हे प्रभो ! हे स्वामिन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि मूर्ख

पुरुषको कहा अच्छा लगता है और आत्मज्ञानीको कहां अच्छा लगता है?

उत्तर—यत्रैव मूर्खः खलु जायते वै पाकात्पुरा सचितकर्मणश्च ।
सुतन्मयः सन् रमते हि तत्र विस्मृत्य धर्मं किल पूर्वबंधून् ॥१४३
स्वतत्त्ववेदी कृतकर्मयोगात् नीचोच्चवशे मम जन्म जातम् ।
द्वेषो न रागोऽस्ति तथापि तत्रेति मन्यमानो रमते स्वराज्ये॥१४४

अर्थ—आत्माके स्वरूपको न जाननेवाला मूर्ख पुरुष पहले संचित किए हुए कर्मके उदयसे जहांपर वा जिस योनिमे उत्पन्न होता है, वहांपर वा उसी योनिमें वह तन्मय होकर प्रसन्नताके साथ रहने लग जाता है, तथा वह अपने धर्मको भी भूल जाता है और पहलेके भाईबंधुओंको भी भूल जाता है। परंतु जो जीव अपने आत्माके स्वरूपको जानता है वह यही समझता है कि मैं अपने पहले किए हुए कर्मों के उदयसे नीच वा ऊंच वंशमें उत्पन्न हुआ हूं अथवा नीच वा ऊंच कुलमें मेरा जन्म हुआ है । तथापि इस कर्मके उदयसे होनेवाले ऊंच नीच जन्ममें मै न तो राग करता हूं और न द्वेष करता हूं। इस प्रकार मानकर वह अपने शुद्ध आत्मामें ही लीन रहता है ।

भावार्थ—पशु होना, पक्षी होना, मनुष्य होना वा नरकमें उत्पन्न होना आदि सब इस जीव की पर्याय है। ये पर्यायें अपने अपने किये हुए कर्मके उदयसे धारण करनी पडती हैं । यह जीव जैसा करता है वैसाही फल भोगता है । पुण्य उत्पन्न करनेवाला जीव स्वर्गादिकमें देव होता है अथवा मनुष्य पर्यायमें राजा महाराजा वा अन्य कोई पुण्यशाली मनुष्य होता है । तथा पाप उत्पन्न करनेवाला जीव नरकमें जाता है वा नीच पशु पक्षियोंके शरीर धारण करता है । ये

सब पर्यायें कर्मोंके उदयसे प्राप्त होती हैं। यदि यह जीव अपने समस्त कर्मोंको नष्ट करदे तो फिर उस जीवको ये पर्यायें कभी धारण नहीं करनी पडतीं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ये पर्यायें शुद्ध आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं। जो जीव अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानता है वह इसी प्रकार समझता है और इसीलिये वह अच्छी वा बुरी किसी भी पर्यायमें रागद्वेष नहीं करता। वह तो केवल शुद्ध आत्मामें लीन रहनेका प्रयत्न करता रहता है। परंतु जो पुरुष अपने आत्माका यथार्थ स्वरूप नहीं जानता वह उस कर्मजन्य आत्माकी पर्यायको ही अपना स्वरूप मान लेता है। उसको अपने आत्माके यथार्थ शुद्ध स्वरूपसे भिन्न नहीं समझता और इसीलिये वह उस पर्यायमें तन्मय हो जाता है। तथा उसके पालन पोषण करनेके लिये अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करता रहता है और फिर ससारसागरमें परिभ्रमण करता हुआ महादुःख भोगा करता है। अतएव प्रत्येक भव्य जीवको आत्माका स्वरूप जानकर उस नर नारक आदि पर्यायको त्याज्य समझना चाहिये और शुद्ध आत्माको उपादेय समझकर उसमें लीन होनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये। यही उसके कल्याणका मार्ग है ॥ १४३ - १४४ ॥

आगे मूर्ख और बुद्धिमान् क्या क्या करते हैं यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—किं किं करोति मूर्खश्च धीमान् मे वा गुरो वद ॥

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि मूर्ख पुरुष तो क्या करता है और बुद्धिमान् पुरुष क्या करता है?

उत्तर—स्वतत्त्वशून्योऽक्षसुखं सुमत्वा तत्प्राप्तये भृत्य इवाति सेवाम्
करोति तस्य स्वसुखं विहाय तद्दोषतो बन्दिगृहं प्रयाति ॥१४५
यस्तत्त्ववेदी परमः प्रसन्नो जितेन्द्रियः सः भवभोगदूरः ॥
संयम्य चित्ताक्षपिशाचवर्गं तद्योगतः स्वात्मगृहं प्रयाति १४६

अर्थ—जो जीव आत्मतत्त्वको नहीं जानता वह इन्द्रियोंके सुखो को ही सब कुछ मानता है। तथा उन सुखोंकी प्राप्तिके लिए अपने आत्मजन्य अनंतसुखका जो त्याग कर देता है और इन इन्द्रियोंके सुखोंकी प्राप्तिके लिए सेवकके समान उनकी अत्यंत सेवा करता है। तथा इसी दोषसे वह बंदीगृहमें जा पहुंचता है परन्तु जो आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानता है वह मन और इन्द्रियरूपी पिशाचोंके समूह को अच्छी तरह वशमें कर लेता है, अच्छी तरह इन्द्रिय और मनका निग्रह कर लेता है और इसीलिये वह समस्त इन्द्रियोंको जीतकर संसार शरीर और भोगोंसे सर्वथा हट जाता है, और इन्हीं सब कारणोंसे अत्यंत प्रसन्न होकर अपने घरमें जा पहुंचता है।

भावार्थ—इस शुद्ध बुद्ध स्वरूप आत्माका अथवा परमात्माका सदाकाल रहनेका निवास स्थान मोक्ष है। मोक्षमें किसी प्रकारका बंधन नहीं है वहांपर यह शुद्ध आत्मा सर्वथा स्वतंत्र रहता है। और अनंत कालतक अनंत सुखका अनुभव करता रहता है। परंतु उस अपने निवास स्थानतक पहुंचनेका साधन इन्द्रिय और मनको वशमें करना है। इस संसारमें जितने पाप होते हैं वे सब इन इन्द्रिय और मनको तृप्त करनेके लिये ही होते हैं। तथा उन्हीं पापोंसे यह संसारी आत्मा तीव्र अशुभ कर्मोंका बंध करता है और फिर उन कर्मोंके उदयसे नरक

निगोदादिकमें परिभ्रमण करता रहता है। इस प्रकारके कर्मोंके निमित्तसे नरक निगोदादिकरूप संसारमे परिभ्रमण करना इस जीवके लिये वंदीगृह है। उस ससाररूप वंदीगृहमें ये संचित किये हुए कर्म इस जीवको सदाकाल दुःख देते रहते हैं। जबतक इस जीवके साथ कर्मरूपी सिपाई लगे रहते हैं तवतक वह जीव कभी भी स्वतंत्र होकर अपने घर नहीं पहुंच सकता। जब वह जीव अपने आत्माके स्वरूपको जानकर उन इद्रियोंके विषयोका सर्वथा त्याग कर देता है और आत्माम लीन होकर कर्मोका नाश कर देता है तभी वह अपने मोक्षरूप घरमे पहुच सकता हे। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको अपने आत्माका स्वरूप जानकर इद्रियोंके विषयोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। यही आत्माका कल्याण करनेवाला है।१४५-१४६।

आगे मूर्ख और ज्ञानीके चिन्ह बतलाते है।

प्रश्न—**मूर्खस्य ज्ञानिनश्चिन्ह विद्यते किं प्रभो वद ?**

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि आत्मज्ञानीका चिन्ह क्या है और मूर्खका चिन्ह क्या है ?

उत्तर—**देवश्च सेव्योऽर्हन्नहमेव नस्त्यास्मि सेवकः क्वौ निरपेक्षबुद्ध्या**
मूर्खो ह्यबोधादिति मन्यमान्यो निर्वृत्तिमार्गाद्भवतीह दूरः १४७
आत्मप्रबोधो हृदि योऽस्ति सावज्ञोऽस्मि देवस्य विमोहनाशात्
देवः स्वयं चास्मि यथार्थदृष्ट्येति मन्यमानो भवति प्रपूज्यः१४८

अर्थ—जो पुरुष आत्माके स्वरूपको नहीं जानता वह अपने अज्ञानके कारण यही समझता है कि भगवान् अरहंतदेव हमारे देव हैं और मैं विना किसी अपेक्षाके उनका सेवक हूं। इस प्रकार मानकर

वह निर्वृत्तिमार्गसे-त्यागमार्गसे बहुत दूर जा पड़ता है । परंतु जो आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानता है वह यही समझता है कि जबतक मेरे हृदयमें यह मोह विद्यमान है तबतक मैं भगवान् अरहंत देवका भक्त हूं । जिस दिन मेरे हृदयसे यह मोह सर्वथा नष्ट हो जायगा उस दिन मैं यथार्थ रीतिसे स्वयं देव बन जाऊंगा । इस प्रकार मानता हुआ वह संसारभरमें पूज्य हो जाता है ।

भावार्थ—जिस समय इस जीवका मोहनीय कर्म सर्वथा नष्ट हो जाता है उसके अन्तर्मुहूर्त बाद ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्म सर्वथा नष्ट हो जाते हैं । तथा इन चारों कर्मोंके नष्ट हो जानेसे अरहंत अवस्था प्राप्त हो जाती है । इस अरहंत अवस्थाको देव कहते हैं । भगवान् अरहंत देव सदा पूज्य होते हैं और पूजा करनेवाले उनकी पूजा करते हैं । परंतु पूजा करनेवाले वे ही पुरुष होते हैं जिनके मोहनीय कर्म विद्यमान रहता है । भगवान् अरहंतदेवने मोहनीय कर्मको सर्वथा नाश कर दिया है । इसलिए उसी मोहनीय कर्मको नाश करनेके लिये श्रावक लोग भगवान् अरहंतदेवकी पूजा करते हैं । अथवा मुनि लोग भी मोहनीय कर्मका नाश करनेके लिये ही अरहंतदेवका ध्यान करते हैं । मोहनीयकर्म जड़ है और उसने आत्माके स्वरूपको ढक रक्खा है । जबतक यह मोहनीयकर्म नष्ट नहीं होगा तबतक आत्माका स्वरूप प्रगट नहीं हो सकता । तथा आत्मा का यथार्थ स्वरूप प्रगट होना ही देवपना वा पूज्यपना है । इसलिये आत्माके स्वरूपको जाननेवाला जो यह समझता है कि जबतक मेरे हृदय में मोहनीय कर्मकी सत्ता है तभीतक मैं भगवान् अरहंतदेवकी

पूजा करता हूं । जिस दिन मेरा मोहनीय कर्म नष्ट हो जायगा उस दिन मैं भी देव हो जाऊगा और फिर मेरे आत्मामें पूज्यपूजकभाव कभी उत्पन्न नहीं हो सकेगा । उसका यह समझना सर्वथा यथार्थ है और ऊपर लिखे अनुसार सिद्ध हो जाता है । परंतु जो पुरुष सदाकाल पूज्यपूजकभाव ही माना करेगा अपने आत्माको कभी पूज्य नहीं बना सकेगा वह जीव सदाकाल संसारमें ही परिभ्रमण किया करेगा । यह ऐसा होना उसके अज्ञानका फल है । इसलिये अज्ञानका त्याग कर आत्मज्ञान प्रगट करना चाहिये जिससे कि शीघ्र ही आत्माका कल्याण हो जाय ।१४७-१४८।

आगे विषयोंसे विरक्त होकर ज्ञानी क्या करता है और अज्ञानी क्या करता है यही दिखलाते हैं ।

प्रश्न—विरक्तो विषयाद्भूत्वा ज्ञानी मूर्खः करोति किम् ?

अर्थ—हे स्वामिन् विषयोंसे विरक्त होकर ज्ञानी क्या करता है और अज्ञानी क्या करता है ?

उत्तर—स्वतत्त्वशून्यो विषयाद्विरक्तो भूत्वा नचानन्दरसे सुरक्तः ।
यः केवलं रूढिवशात्करोति तपोजपं ध्यानविधेर्विधानम् १४९
स्वतत्त्ववेदी विषयाद्विरक्तो भूत्वा हि चानन्दरसे सुरक्तः ।
यः केवलं मोक्षपुरीं प्रयातु गतस्पृहो ध्यानतपः करोति १५०

अर्थ—जो पुरुष अपने आत्माके स्वरूप को नहीं जानता वह विषयोंसे विरक्त होकर भी आत्मजन्य अतींद्रियसुखमें लीन नहीं होता ऐसा पुरुष जो कुछ जप तप वा ध्यान की विधि करता है वह केवल रूढि समझकर ही करता है । परंतु जो पुरुष आत्माके स्वरूप को

जानता है वह विषयोंसे विरक्त होकर आत्मजन्य अतीन्द्रिय सुखमें लीन हो जाता है। तथा फिर वह केवल मोक्ष प्राप्त करनेके लिये विना किसी इच्छाके ध्यानरूपी महा तपश्चरणको करता है।

भावार्थ—विषयोंसे विरक्त होनेका अभिप्राय आत्मामें लीन होना है। क्योंकि विषयोंके सेवन करनेसे यह आत्मा संसारमें परिभ्रमण करता है। और नरक निगोदादिकके दुःख भोगता है। वे दुःख प्राप्त न हों, आत्मा सदा सुखी रहे इसी लिये वह विषयोंका त्याग करता है। परंतु जो जीव आत्माके स्वरूपको ही नहीं जानते वे जीव विषयोंका त्याग करके भी आत्मा को सुखी नहीं बना सकते। इसका भी कारण यह है कि यह आत्मा परपदार्थोंके निमित्तसे ही सदाकालसे दुःखी होता आ रहा है। जबतक यह आत्मा परपदार्थोंका त्याग कर अपने स्वरूपमे लीन नहीं होता तबतक वह कभी सुखी नहीं हो सकता। तथा अपने आत्माके स्वरूपमें लीन नही हो सकता जो आत्माका स्वरूप जानता है। अतएव आत्माके स्वरूप को जानने वाला जो पुरुष आत्मामे लीन होकर जो ध्यान वा अन्य तपश्चरण करता है उससे वह कर्मोंका नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। परंतु जो अपना स्वरूप ही नहीं जानता वह न तो आत्मामें लीन हो सकता है और न कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसलिए वह विषयोका त्याग करके भी जो कुछ ध्यान वा तपश्चरण करता है वह सब व्यर्थ ही गिना जाता है। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको अपने आत्माके स्वरूपको जाननेका प्रयत्न करना चाहिये। यही आत्मकल्याणकी पहिली सीढी है ॥१४९, १५०॥

आगे तपश्चरण करते हुए ज्ञानी और अज्ञानियोंमेंसे कौन मोक्ष प्राप्त कर लेता है यह दिखलाते हैं।

प्रश्न—कुर्वन् ज्ञानी तपोमूर्खो मोक्षस्थानं प्रयाति कः ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब यह बतलाइये कि मूर्ख भी तपश्चरण करता है और ज्ञानी भी तपश्चरण करता है परंतु मोक्ष किसको प्राप्त होती है ?

उत्तर—देहादिभिन्नं स्वसुखाश्रितं चात्मानं चिदानन्दमयं न वेत्ति।
व्रतोपवासं स करोति मूर्खस्तथापि मोक्षं न कदापि याति १५१
देहादिभिन्नं निजभावलीनं यो वेत्ति चात्मानमपि स्वराज्यम्।
कुर्वंस्तपः स्वल्पतरं तथापि स्वस्मिन् वसन्तं च प्रयाति मोक्षम् १५२

अर्थ—यह चिदानन्दमय आत्मा शरीरसे भिन्न है और अपने आत्मजन्य सुखके आश्रित है। इस प्रकारके अपने आत्माके स्वरूपको जो नहीं जानता है वह अनेक प्रकारके व्रत उपवास करता हुआ भी कभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। परंतु जो जीव शरीरसे भिन्न और अपने शुद्ध भावोंमें लीन होनेवाले शुद्ध आत्माके स्वरूपको जानता है वह थोडा तपश्चरण करनेपर भी अपने ही आत्मामें रहनेवाले मोक्षस्थानको प्राप्त करलेता है।

भावार्थ—जबतक इस जीवको आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान नहीं होता तबतक व्रत उपवास आदि करना सब व्यर्थ हो जाता है। इसका भी कारण यह है कि जो पुरुष आत्माके यथार्थ स्वरूपको जान लेता है वह शरीर और इंद्रियोंको उस शुद्ध बुद्ध आत्मासे सर्वथा भिन्न समझने लगता है। तथा इंद्रिय और शरीरको भिन्न समझकर

फिर व्रत उपवास आदिके द्वारा उन इंद्रियोंका निग्रह करता है, इंद्रियों के द्वारा होनेवाले समस्त पापोंका त्याग करता है, शरीरसे मोहका त्याग कर घोर तपश्चरण करता है और आत्मामें लीन होनेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह समस्त कर्मोंका नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। परंतु जो आत्माका स्वरूप ही नहीं जानता वह इंद्रियादिकको कभी भिन्न समझ ही नहीं सकता तथा इंद्रियादिकको विना भिन्न समझे उनका निग्रह नहीं कर सकता, न उनसे होनेवाले पापोंका त्याग कर सकता है और न आत्मामें लीन हो सकता है। अतएव वह मोक्ष प्राप्त भी कभी नहीं कर सकता। इसलिये प्रत्येक भव्यजीवको आत्माका स्वरूप जानकर इन्द्रियोंका निग्रह करना चाहिये और आत्मामें लीन होकर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिये ॥१५१-१५२॥

आगे ज्ञानी और अज्ञानी इन दोनोंको तपश्चरणका क्या फल मिलता है यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—तपसा पीडितो मूर्खो ज्ञानी किं याति तत्फलम् ?

अर्थ——हे स्वामिन्! अब यह बतलाइये कि तपश्चरणसे पीडित हुए अज्ञानीको क्या फल मिलता है और ज्ञानीको क्या फल मिलता है?

उत्तर—स्वतत्त्वशून्यः परिपीडितोपि क्रियाकलापैर्विविधैर्विधानैः।
तथापि सत्यार्थफलेन हीनो भवत्यवश्य हृदि खेदखिन्नः ॥१५३
यस्तत्त्ववेदी परिपीडितोपि व्रतोपवासैर्विषमैस्तपोभि।
स्तथापि साम्राज्यपदं पवित्रं प्राप्नोति खेदेन विना स योगी॥१५४

अर्थ——जो पुरुष अपने आत्माके स्वरूपको नहीं जानता वह अनेक प्रकारकी क्रियाओंसे तथा अनेक प्रकारके तपश्चरणादिक विधानों

से अत्यंत पीडित होता है- तथापि- उसको उन क्रियाओंका तथा तपश्चरण आदि विधानोका यथार्थ फल कुछ भी प्राप्त नहीं होता। तथा इस प्रकार वह पुरुष अपने हृदयमे सदाकाल खेदखिन्न बना रहता है। परतु जो पुरुष अपने आत्माके स्वरूपको जानता है वह अनेक प्रकारके व्रत उपवासोंसे वा अनेक प्रकारके घोर तपश्चरणोंसे अत्यंत पीडित होता है तथापि वह अपने शुद्ध आत्माका ध्यान करनेवाला योगी विना किसी खेदके अत्यंत पवित्र ऐसे आत्माकी शुद्धतारूप साम्राज्यपदको वा मोक्षपदको प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—यह आत्मा अनादिकालसे कर्मोंके वशीभूत हो रहा है और उसके उदयसे अपने स्वरूपको भूल रहा है। वास्तवमें देखा जाय तो कर्म जड है और आत्मा चैतन्यमय है। चैतन्यमय आत्माको अपना स्वरूप भूलना नही चाहिये परंतु मोहनीय कर्मका उदय इस आत्माको मोहित कर देता है और इसीलिये यह आत्मा मोहित होकर शरीरादिक परपदार्थोंको अपना समझने लगता है और अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको भूल जाता है। ऐसी अवस्थामें वह जो कुछ तपश्चरणादिक करता है वह सब शरीरादिकके पालन-पोषण करनेके लिए ही करता है आत्माके कल्याणके लिए नहीं करता। क्योंकि आत्माके स्वरूपको तो वह समझता ही नहीं फिर भला वह उनका कल्याण कैसे कर सकता है, इससे यह बात अपने आप सिद्ध हो जाती है कि आत्माके स्वरूपको जाननेवाला ही आत्माका कल्याण कर सकता है क्योंकि वह अपना स्वरूप समझता है। इसलिए वह परपदार्थोंको अपना नहीं समझ सकता और इसीलिये वह उन परपदार्थोंका त्याग कर आत्मामे

ही रहने का प्रयत्न करता है। अत एव उसका तपश्चरण आदि सब सार्थक हो जाता है और वह शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है॥ १५३ - १५४॥

आगे कौन पुरुष रागद्वेषके वशीभूत होता है और कौन नहीं यही दिखलाते हैं।

प्रश्न— रागद्वेषवशं याति को वा याति न भो वद ?

अर्थ—हे भगवन ! अब यह बतलानेकी कृपा कीजिये कि कौनसा जीव रागद्वेषके वशीभूत हो जाता है और कौनसा जीव रागद्वेषके वश नहीं होता ?

उत्तर–रागं प्रकुर्वन् खलु मूर्खजीवः पुनश्च तस्यैव भवप्रदस्य ।
वशं प्रयात्येव गतेरभावात् चौरो यथा भूपवशं सदोषात्॥१५५
यस्तत्त्ववेदी परभावभिन्नः द्वेषस्य रागस्य वश न याति ।
यथैव सर्पस्य भयकरस्य वश न यात्येव सुमन्त्रवेदी ॥ १५६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चोरी करनेवाला चोर अपने चोरी करनेरूप दोषके कारण राजाके वश हो जाता है, उसी प्रकार आत्माके स्वरूपको न जाननेवाला अज्ञानी पुरुष दुष्ट अनिष्ट पदार्थोंमे रागद्वेष करता है, उनसे कर्मबंध कर ससारमे परिभ्रमण करता है और इस प्रकार ससारमें परिभ्रमण करानेवाले उन रागद्वेषके फिर वशीभूत हो जाता है। इसके बिना उसकी कोई दूसरी गति ही नहीं है । परंतु जो पुरुष अपने आत्माके स्वरूपको जानता है वह इष्ट अनिष्ट आदि समस्त परपदार्थोंसे अपने आत्माको भिन्न समझता है और इसीलिये जिस प्रकार मत्रशास्त्र को जाननेवाला पुरुष किसी भयंकर सर्पके भी वश नहीं होता उसी

प्रकार परपदार्थोंसे अपने आत्माको सर्वथा भिन्न माननेवाला पुरुष राग वा द्वेषके वशीभूत कभी नहीं हो सकता।

भावार्थ—जो पुरुष परपदार्थोंको अपना समझता है वही पुरुष उन पदार्थोंमे इष्ट वा अनिष्ट की कल्पना कर सकता है। और जो पुरुष इष्ट अनिष्टकी कल्पना करता है वही पुरुष इष्ट पदार्थोंमें राग करता है और अनिष्ट पदार्थोंमे द्वेष करता है। इस प्रकार इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमे रागद्वेष उत्पन्न कर वह मोहनीय कर्मका बंध करता है। तथा जब उस मोहनीय कर्मका उदय होता है तब फिर वह मोहित होकर आत्माके यथार्थ स्वरूपको भूल जाता है और इष्ट अनिष्ट आदि पर-पदार्थोंमें रागद्वेष करने लगता है। इस प्रकार राग-द्वेषकी परपरा उसकी सदाकाल चलती रहती है। रागद्वेषसे मोहनीय कर्मका बन्ध होना और उस कर्मके उदयसे फिर रागद्वेष होना उसके लिये अनिवार्य हो जाता है। इसके सिवाय उसकी कोई दूसरी गति ही नहीं हो सकती है। परंतु जब वह आत्मा अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझ लेता है तब वह परपदार्थोंको पर समझता है और अपने चैतन्यमय आत्माको उन सबसे सर्वथा भिन्न समझता है ऐसी अवस्थामें वह किसी परपदार्थमें इष्ट अनिष्ट की कल्पना नहीं करता और इसीलिये वह उन पदार्थोंमे रागद्वेष नहीं करता। फिर तो वह केवल अपने आत्मामें लीन होनेका प्रयत्न करता है, और यही मोक्षका उपाय है ' जिसप्रकार चोर पर पदार्थोंको ग्रहण करता है तभी वह चोर कहलाता है और राजासे यथेष्ट दंड पाता है। यदि वह अपने ही पदार्थोंको ग्रहण करे तो वह कभी दडका पात्र न हो। इसी प्रकार

यह आत्मा भी जब शरीरादिक परपदार्थोंको अपना मानकर उनमें मोह करता है तभी वह चोरके समान कर्मोंके बंधनोंमे पडता है और संसारमें परिभ्रमण कर यथेष्ट दंडका पात्र होता है। इसलिये परपदार्थोंसे रागद्वेष न कर अपने आत्मामें लीन होना ही प्रत्येक भव्यजीवका कर्तव्य है। और यही आत्माके कल्याणका साधन है ॥ १५५ - १५६ ॥

आगे यह जीव मोहके उदयसे क्या करता है और मोहके नाशसे क्या करता है यही दिखलाते हैं।

मोहोदयाद्धारयति प्रमूढो विक्षिप्तचित्तं कपिवद्विलोलम् ।
योग्यं ह्यतश्चैकमपि स्वकृत्यं करोति नानन्दपदे निवासम् ॥१५७
मोहक्षयाद्धारयति प्रवीणो विक्षिप्तमुक्तं हृदयं पवित्रम् ।
कर्तुं सुयोग्य ह्यतएव कार्यं करोत्यवश्य सुखशांतिदं च ॥१५८॥

अर्थ—मोहनीयकर्मके तीव्र उदयसे यह आत्माके स्वरूपको न जानने वाला अज्ञानी जीव अपने हृदयको विक्षिप्तके समान बना लेता है तथा बंदरके समान अत्यंत चंचल बना लेता है। इसीलिये वह अपने आत्मा का कल्याण करनेवाला एक भी कार्य नहीं करता और न कभी अपने चिदानन्दमय आत्मामें निवास करता है। परंतु जब इस जीवका मोहनीयकर्म उपशांत हो जाता है अथवा नष्ट हो जाता है उस समय वह आत्माके स्वरूपको जाननेवाला चतुर पुरुष अपने हृदयको पवित्र और निश्चल बना लेता है और इसीलिये मोक्षरूप अत्यंत सुयोग्य कार्य करनेके लिये वह सुख और शांति देनेवाले कार्योंको अवश्य करता है।

भावार्थ—इस संसारमें मोहनीयकर्म ही सबसे प्रबल है, इस मोहनीय

कर्मके उदयसे ही आत्मा मोहित हो जाता है तथा अपना स्वरूप भूलकर परपदार्थोंमें लीन हो जाता है। परपदार्थोंमे लीन होनेके कारण उनमें ही यह इष्ट अनिष्ट कल्पना करता है, उन्हींमें रागद्वेष करता है रागद्वेष की तीव्रतासे चित्त विक्षिप्त होजाता है। सदाकाल चंचल बना रहता है और इस प्रकार वह सदाकाल अशुभकर्मोंका बंध करता रहता है। इस प्रकार यह आत्मा अपने आत्माको ऐसा भूल जाता है कि फिर उसके कल्याणके लिये एक भी कार्य नहीं करता। और न उस आत्माका स्वरूप जाननेका तथा उसमें लीन होनेका प्रयत्न करता है। परंतु जब इस जीवका वह मोहनीयकर्म कुछ मंद हो जाता है और कुछ आत्माके स्वरूपका ज्ञान होने लगता है उस समय यदि प्रयत्न करके मोहनीय कर्मको उपशांत करदे वा क्षय करदे सो फिर उसका आत्मा अपने आत्माके स्वरूपको अपने आप पहचानने लगता है। तथा उसको पहिचानकर उसके कल्याणके लिये प्रयत्न करता है, और सदाकाल रहनेवाली सुख शांति प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार तीव्र वेगसे बहनेवाली नदीमे यदि कोई मनुष्य गिर जाय और वह तैरना जानता हो तथापि जबतक उस नदीका वेग तीव्र रहता है तबतक वह उसमे बहता ही चला जाता है। तैरकर पार नहीं जा सकता। परंतु जब आगे चलकर नदीका वेग किसी समतल भूमिमें जाकर मंद हो जाता है। तब यदि वह पुरुष दो हाथ मारकर पार होना चाहे तो हो सकता है, अन्यथा नहीं। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको अपना मोह दूर करना चाहिये यही आत्माके कल्याणका मार्ग है ॥ १५७ - १५८ ॥

आगे सुसंस्कार और कुसंस्कारसे यह मनुष्य क्या क्या कार्य करता है यही दिखलाते हैं ।

प्रश्न—कुसंस्कारात्सुसंस्कारात् कार्यं किं किं करोति ना ?

अर्थ—हे भगवन् ! अब यह बतलाइये कि कुसंस्कारसे यह जीव क्या करता है और अच्छे संस्कारोंसे क्या करता है ?

उत्तर-मूर्खः कुसंस्कारवशप्रकीर्णः सन्नेव कार्यं च करोति निंद्यम् ।
यथा कुसंगाद्व्यसनी करोति पापं सहस्रं सततं व्यथादम् ॥१५९
ज्ञानी सुसंस्कारशतप्रयुक्तः सन्नेव सर्वत्र करोति शांतिम् ।
स्वाचारमार्गं प्रकटी करोति भस्मीकरोत्येव जवात्कुरीतिम् १६०

अर्थ—जिस प्रकार सातों व्यसनोंको वा किसी एक व्यसनको सेवन करनेवाला कोई पुरुष अपनी कुसंगति से अनेक प्रकारके दुःख देनेवाले हजारों पाप सदाकाल करता रहता है उसी प्रकार आत्माके स्वरूपको न जाननेवाला अज्ञानी पुरुष अपने कुसंस्कारोंके निमित्तसे सदाकाल निंदनीय कार्य ही करता रहता है । परंतु आत्माके स्वरूपको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष अपने सैकड़ों श्रेष्ठ संस्कारोंके निमित्तसे सदाकाल और सर्वत्र शांति स्थापन करता रहता है अपने श्रेष्ठ सदाचार के मार्गको प्रगट करता रहता है और समस्त कुरीतियोंको बहुत शीघ्र नष्ट कर देता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार योग्य और श्रेष्ठ संस्कारसे हीराका मूल्य बढ जाता है तथा अयोग्य संस्कारसे उसका मूल्य घट जाता है उसी प्रकार आत्माके स्वरूपको न जाननेवाला पुरुष अपने कुसंस्कारोंसे ही निंदनीय कार्य करता रहता है । तथा उन निंदनीय कार्योंसे अनेक प्रकारके पाप

उत्पन्न करता रहता है । यह जीव जब मोहनीय कर्मके उदयसे मोहित हो जाता है और आत्माके स्वरूपको भूलकर परपदार्थोंको अपना लेता है तभी यह जीव उन परपदार्थोंमें इष्ट अनिष्ट कल्पना कर अपने संस्कार बिगाड लेता है । यदि यह जीव अपने आत्माके स्वरूपको जानले तो फिर किसी प्रकार भी इसके संस्कार नहीं विगड सकते । क्योंकि अपना स्वरूप जानकर तो फिर यह आत्मा अपने कल्याण करनेमें लग जाता है । परपदार्थोंको हेय समझकर उनसे अपने आत्माका संबंध ही नहीं होने देता, फिर भला उसके संस्कार विगड ही कैसे सकते हैं । अतएव भव्यजीवोंको परपदार्थोंमें होनेवाले मोहको नष्टकर अपने आत्माको कुसंस्कारोंसे बचाना चाहिये और अपने आत्माके स्वरूपमे लीन होकर आत्माको इस प्रकार ध्यान वा तपश्चरण की षाणपर रखना चाहिये कि जिससे उसके रत्नत्रय गुण पूर्ण रीतिसे प्रगट हो जाय और इस आत्माको मोक्षकी प्राप्ति हो जाय । यही उसके कल्याणका मार्ग है । इसीसे समस्त कुरीतिया नष्ट हो जाती हैं सदाचारका मार्ग प्रगट हो जाता है और अनंतकालतक रहनेवाली अनंत शांति और अनंत सुख उत्पन्न हो जाता है ॥१५९-१६०॥

आगे किसका हृदय तप्तायमान रहता है और किसका नहीं यही दिखलाते हैं ।

प्रश्न—तप्यते कस्य चित्तं न तप्यते कस्य मे वद ?

अर्थ—हे स्वामिन् अब मुझे यह बतलाइये कि किसका हृदय संतप्त रहता है और किसका नहीं ?

उत्तर—मानापमानस्य भवप्रदस्य यस्यास्ति चित्ते सततं विचारः।
तस्यैव मूढस्य मनश्च वह्नौ लोहादिवत्तप्यत एव नित्यम् ॥१६१
मानापमानस्य खलाश्रितस्य स्वप्नेपि न स्याद् हृदि यस्य वासः।
सहस्रकार्ये सुखदे कृतेपि न तप्यते चित्तचकोरपक्षी ॥ १६२ ॥

अर्थ—यह मान और अपमानका विचार दुष्ट पुरुषोंके ही हृदय में रहता है और संसारके महादु.खोको उत्पन्न करता रहता है। ऐसे इस मान और अपमान का विचार जिस अज्ञानी पुरुषके हृदयमें सदाकाल बना रहता है उसका हृदय सदाकाल इस प्रकार जलता रहता है जिस प्रकार कि अग्निकी भट्टीमे लोहा जलता रहता है। परंतु जो पुरुप आत्माके स्वरूपको समझ लेता है वह पुरुष अपने हृदय में स्वप्नमे भी कभी मान वा अपमान का विचार नहीं करता, और इसीलिये उसका हृदयरूपी चकोरपक्षी सुख देनेवाले सहस्रों कार्यों को कर लेने पर भी कभी संतप्त नहीं होता।

भावार्थ—हृदय के संतप्त होनेका कारण मान वा अपमान है। यद्यपि यह जीव अनेक बार एकेंद्रिय हुआ, अनेक बार छोटे छोटे कीडोमे उत्पन्न हुआ, अनेक वार नारकी हुआ, अनेक बार पशु हुआ, अनेक वार पक्षी हुआ, अनेक बार जलचर हुआ, अनेक बार दीन वा दरिद्र हुआ और अनेक वार मागकर पेट भरनेवाला हुआ। ऐसी अवस्थामें मान अपमान का विचार करना व्यर्थ है। अभिमान उच्चावस्था में होता है तथा इस जीवकी सबसे उच्चावस्था सिद्ध अवस्था है। यदि इस जीवको अपने अभिमानका विचार है तो संसाररूप अपमान होनेके स्थानको छोडकर

सिद्धावस्था प्राप्त करलेने पर फिर कभी अपमान हो ही नहीं सकता अथवा रागद्वेषके नष्ट हो जानेसे मान अपमानका कभी विचार ही उत्पन्न नही हो सकता। कदाचित् कोई यह कहे कि कोई कोई तीव्र अज्ञानी वा तीव्र मिथ्यादृष्टि सिद्धोका भी तिरस्कार कर देते है तो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार चकोरपक्षी अग्निको खा जाता है तथापि उसका मुख नहीं जलता इसी प्रकार भगवान् सिद्ध परमेष्ठी सर्वोत्तम है अतएव जो अज्ञानी पुरुष उनका तिरस्कार करता है वह अपने ही आत्माको अनत पापोंमें डुबाता हुआ अपना तिरस्कार करता है। वास्तवमें देखा जाय तो आत्मा चिदानंदमय है। मोहनीयकर्मके उदयसे इसकी दुर्गति हो रही है और इसीलिये इसे स्थान स्थान पर अनेक प्रकारके अपमान सहने पडते है और अपने हृदयको जलाना पडता है। अतएव इससे बचनेका एक मात्र उपाय मोहनीयकर्मको नष्ट कर अपने आत्माके स्वरूपको जानना और उसमें लीन होना है। जो पुरुष अपने आत्माको जानकर उसमें लीन हो जाता है उससे फिर जितने कार्य बनते है वे सब सुख देनेवाले ही बनते है। तथा परपदार्थोका संबन्ध छोड देनेके कारण वह अनेक सुख देने वाले कार्योंको करता हुआ भी वह उनमें अपनापन नहीं रखता, आत्माकी स्वाभाविक प्रवृत्तिरूप मानता है। इसीलिये उसके हृदयमें न उसका विचार होता है और न उसका हृदय कभी सतप्त होता है।

आगे अपने दोषोंको कौन जानता है और कौन नहीं यही दिखलाते है।

प्रश्न—स्वदोषं दुःखदं निंद्यं वेत्ति को वा न च प्रभो !

अर्थ—हे प्रभो ! अब यह बतलाइये कि अत्यत निंदनीय और दुःख देनेवाले अपने दोषोंको कौन जानता है और कौन नहीं जानता।

उत्तर-अज्ञानतः क्रूरतर कुपाप कृत्वा स्वयं वेत्त्यपि न स्वदोषम् ।
तन्नाशहेतोरतएव मूर्खोऽज्ञानं न मुक्त्वा यतते हितार्थम् ॥१६३॥
अज्ञानतो घोरतर कुपापं स्वयं मयैवेह कृतं खलेन ।
यस्तत्त्ववेदीति च मन्यमानस्तन्नाशहेतोर्यतते हितार्थम् ॥१६४॥

अर्थ—आत्माके स्वरूपको न जाननेवाला अज्ञानी पुरुष अपने अज्ञानसे अत्यत क्रूर ऐसे महापाप उत्पन्न करता रहता है और स्वय उन दोषोको नहीं जानता। तथा इसीलिए वह अज्ञानी पुरुष अपने अज्ञानको नाश करनेके लिए, अपने अज्ञानका त्याग कर आत्माके हित करनेका प्रयत्न नहीं करता। परतु जो जीव अपने आत्माके स्वरूपको जानता है यह यही मानता है कि मुझ दुष्टने ही अपने अज्ञानके कारण ये महाघोर पाप उत्पन्न किये है। इसीलिये वह ज्ञानी पुरुष उस अज्ञानको दूर करनेके लिये और आत्मा का हित करनेके लिये सदाकाल प्रयत्न करता रहता है।

भावार्थ—यह आत्मा मोहनीयकर्मके उदयसे इतना मोहित होजाता है कि घोरसे घोर महा पापोंको करता हुआ भी उस महादोषको स्वयं नहीं जान सकता और इस प्रकार सदा अज्ञानी वा आत्महितसे विमुख बना रहता है। परतु मोहनीय कर्मके मंद उदय होनेपर जब यह आत्मा अपने आत्माके स्वरूपको पहिचान ले और अपने आत्मामें स्वपर भेदविज्ञान उत्पन्न करले तो फिर उसे अपने आत्माके स्वरूपके साथ साथ पर-पदार्थोंके स्वरूपका भी ज्ञान हो जाता है। उस समय

वह कर्म वा शरीरको अपने आत्मासे सर्वथा भिन्न और आत्मा को दु ख देनेवाले समझ लेता है और इसीलिये वह फिर पर-पदार्थों को अपने आत्मासे भिन्न करनेका अथवा अपने आत्मासे उनका संबध सर्वथा हटानेका प्रयत्न करता है, और अपने आत्मामें लीन होने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह अनुक्रमसे समस्त कर्मोंको तथा रागद्वेष आदि विकारोंको और शरीरको सर्वथा नष्टकर चिदानंदमय मोक्षको प्राप्त करलेता है। यही आत्माका सदाकाल रहनेवाला परम कल्याण है।

आगे—भोगादिकोंकी इच्छा कौन करता है और कौन नहीं यही दिखलाते है

प्रश्न--दिव्यं देह नवं भोगं को वेच्छति न वा प्रभो।

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि इस संसारमें दिव्य शरीर और नवीन भोगोंकी इच्छा कौन करता है और कौन नहीं करता।

उत्तर-स्वतत्त्वशून्यो विषयाभिलाषी दिव्यं शरीर वसनं नवं हि।
भोग प्रिय वांच्छति शक्रसेव्यं भूत्वात्मसौख्याद्विमुखश्च दूरः १६५
यस्तत्ववेदी विषयाद्विरक्त. सत्स्वात्मसौख्ये यतिवत्प्रलीनः।
आनन्तमध्ये निपतद्व्यथाद् भोग नवं वांच्छति नैव देहम् ॥१६६

अर्थ—जो जीव अपने आत्माके स्वरूपको नहीं जानता वह अपने आत्मजन्य अनत सुखसे विमुख होकर उस सुखसे बहुत दूर हो जाता है और फिर विषयोंकी अभिलाषा करता हुआ दिव्य शरीर धारण करने की इच्छा करता है। नवीन नवीन वस्त्र धारण करनेकी

इच्छा करता है और इन्द्र के द्वारा सेवन करने योग्य सुंदर भोगोंकी इच्छा करता है। परंतु जो जीव आत्माके स्वरूप को जानता है, वह इन्द्रियों के विषयों से सदा विरक्त रहता है और मुनियों के समान सर्वोत्तम आत्मजन्य अनंत सुखमें लीन रहता है। इसीलिये वह विष के समान प्रारंभ में दुःख देनेवाले, मध्यकाल मे दुःख देनेवाले और अंत में दुःख देनेवाले इन नवीन भोगों की तथा इस शरीर की इच्छा कभी नहीं करता।

भावार्थ—यह इच्छा लोभ की पर्याय है। तथा लोभ कपाय सब कपायों में प्रबल है। क्यों कि लोभका ही सूक्ष्म अंश दशवें गुणस्थान तक पहुंचता है। यह लोभ मोहनीयका ही एक भेद है और उस मोहनीय कर्म के उदय से ही प्रगट होता है। तथा मोहनीय कर्मके उदयसे आत्मा मोहित होकर अपने स्वरूपको भूल जाता है और पर पदार्थोंमे लीन होकर उनमें इष्ट अनिष्ट कल्पना करता हुआ रागद्वेष करता है और उनसे नवीन कर्मोंका बंध करता है। इस प्रकार वह जीव इस संसारमें परिभ्रमण करता हुआ महादुःख भोगा करता है। मोहनीय कर्मके उदयसे ही यह जीव जड पुद्गलमय भोगोपभोग सामग्री की इच्छा करता है। और अपने अनंतसुखमय आत्मा को भूल जाता है। परंतु जब उस का मोहनीय कर्म मंद पडजाता है और उस समय प्रयत्न कर वह आत्माके स्वरूपको जानकर स्वपरभेद–विज्ञान उत्पन्न करलेता है। उस समय उसके हृदयका समस्त अंधकार दूर हो जाता है। फिर वह अपने आत्माके सम्यग्दर्शन रूप प्रकाशमे कर्म, शरीर वा भोगोपभोगकी

सामग्री आदि सबको पर और हेय समझता है तथा इसीलिये वह फिर कभी भी उनकी इच्छा नहीं करता। फिर तो वह उनको दुःखदायी समझता है तथा अपने आत्म में ही उसे परम सुखका ज्ञान होता है। इसलिये वह अपने आत्मामें ही लीन होकर अपने आत्माका कल्याण कर लेता है अतएव प्रत्येक भव्य जीवको भोगोपभोगकी सामग्रीसे विरक्त रहना चाहिये और आत्माके स्वरूपको जानकर तथा आत्मामें लीन होकर कर्मोको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिये। इसीमें इस जीवका हित है ॥ १६५-१६६ ॥

आगे—कौन जीव अपने स्वरूपमें पडता है और कौन पर पदार्थोंमें पडता है यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—**पतति स्वे परे स्वामिन् को जीवो वद मेऽधुना।**

अर्थ—हे स्वामिन् अब कृपाकर मुझे यह बतलाइये कि अपने स्वरूपमें कौन रहता है और पर पदार्थोंमें कौन पडता है?

उत्तर—

परे स्वबुद्धिः खलु यस्य जन्तोः स एव मूर्खः स्वपदात् प्रच्युत्वा।
परे पदार्थे पततीव चान्धः कूपे तथा कर्म करोति नित्यम् ॥१६७
निजे स्वबुद्धिः खलु यस्य जन्तोः स एव सुज्ञः परतः प्रच्युत्वा।
निजे स्वभावे भवतीह तृप्तः कर्माणि हन्त्येव तथा समूलात् ॥१६८

अर्थ—जिस प्रकार कोई अधा मनुष्य अपने मार्गसे च्युत होकर कूए में पड जाता है, उसी प्रकार जो जीव पुद्गलादिक परपदार्थोंमें आत्मरूप बुद्धि कर लेता है वह अज्ञानी पुरुष अपने शुद्ध चैतन्यमय स्वभावसे च्युत होकर भोगोपभोगादिक परपदार्थोंमे पड जाता है और

अत्यंत निंदनीय कार्य करता रहता है। परंतु जो जीव अपने आत्मा में ही आत्मरूप बुद्धि कर लेता है वह ज्ञानी पुरुष पुद्गलादिक पर-पदार्थोंसे हटकर अपने आत्माके शुद्ध स्वभावमें ही लीन हो जाता है और फिर वह मोहनीय आदि समस्त कर्मोंको जडसहित नष्ट कर देता है।

भावार्थ—यह आत्मा शुद्ध, बुद्ध चैतन्यस्वरूप है। कर्म वा शरीरादिक परपदार्थोंसे अथवा भोगोपभोगसामग्रीसे सर्वथा भिन्न है। जो भव्यपुरुष अपने आत्माका स्वरूप इसी प्रकार मानता है वह अपने इस स्वरूपसे कभी च्युत नहीं हो सकता। फिर तो वह अपने ही चिदानंदमय आत्मामें तृप्त रहता है और इसीलिये समस्त कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। परतु जो जीव मोहनीय कर्मके तीव्र उदयसे आत्माके इस स्वरूपको भूल जाता है वह शरीरादिकमे ही आत्मबुद्धि कर लेता है और फिर उसीके कल्याणके लिये सतत प्रयत्न करता रहता है। शरीरादिकके कल्याणके लिये वह अनेक प्रकार की भोगोपभोगकी सामग्री इकट्ठा करता है और उससे महापाप उत्पन्न कर वह संसारमें परिभ्रमण करता हुआ महादुःख भोगा करता है। इसलिए प्रत्येक भव्यजीवको अपने आत्माको परपदार्थोंसे सर्वथा हटा लेना चाहिए और आत्माके स्वरूपको जानकर उसमे लीन होना चाहिये तथा समस्त कर्मोंको नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिये। यही आत्माके लिये कल्याणकारी है ॥ १६७ - १६८ ॥

आगे स्त्री, पुरुष, नपुसकलिंगको धारण करनेवाला कौन है और कौन नहीं है यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—त्रिलिंगधारकः कोऽस्ति को नास्ति वद मे प्रभो?

अर्थ— हे भगवन् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि स्त्रीलिंग, पुल्लिंग और नपुंसकलिंग इन तीनों लिंगोंको धारण करनेवाला कौन है और कौन नहीं है ?

उत्तर–त्रिलिंगधारीत्यहमेव विश्वे मद्धारकाण्येव च सन्ति तानि ।
मत्वेति मूढः किल तद्धितार्थं करोति मोह विविधं च पापम्॥१६९
त्रिलिंगधारीत्यहमेव मोहात् तन्नाशकश्चास्म्यहमेव तत्त्वात् ।
यस्तत्त्ववेदीति च मन्यमान. तन्नाशहेतोर्यतते स्वसिध्यै ॥१७०॥

अर्थ—अपने आत्माके स्वरूपको न जाननेवाला अज्ञानी पुरुष यही समझता है कि इस संसारमें स्त्रीलिंग, पुल्लिंग वा नपुंसकलिंग को धारण करनेवाला मैं ही हूं तथा ये तीनों प्रकारके लिंग मुझमें ही होते हैं अथवा मेरे ही हैं, यही समझकर वह उन तीनों लिंगोंकी विषय-वासना पूर्ण करनेके लिये मोह करता है और अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करता है । परंतु आत्माके स्वरूपको जाननेवाला भव्य-पुरुष यही मानता है कि जब मेरे आत्मा में मोहनीय कर्मका तीव्र उदय होता है, तभी मैं स्त्रीलिंग पुल्लिंग वा नपुंसकलिंग इन तीनो लिंगोमेंसे किसी एक लिंगको धारण करता हूं । यदि वास्त-वमें देखा जाय तो शुद्धबुद्ध चिदानदमय मैं उन तीनों लिंगोंको नाश करनेवाला हूं । यही समझकर वह अपने शुद्ध बुद्ध और चिदानदमय आत्माकी सिद्धि करनेके लिये उन तीनो लिंगोंको नाश करनेका प्रयत्न करता है ।

भावार्थ— स्त्रीलिंग, पुल्लिंग वा नपुंसकलिंगकी प्राप्ति मोहनीय कर्मके उदयसे होती है । जबतक इन लिंगोंको उत्पन्न करनेवाले

मोहनीय कर्मकी सत्ता है तभीतक इन लिंगोंकी सत्ता है । मोहनीय कर्मके नाश होनेपर इन लिंगोका नाश अपने आप हो जाता है, और मोहनीय कर्मके सर्वथा अभाव होनेसे फिर कभी भी इन लिंगोंकी प्राप्ति नहीं होती । इससे यह सिद्ध होता है कि लिंगोका धारण करना आत्माका स्वरूप नहीं है। किंतु उनका नाश कर निराकुल होना आत्माका यथार्थ स्वरूप है । आत्माके इस प्रकारके स्वरूपको जो समझता है वह तो इन तीनो लिंगोंको नष्टकर आत्माके शुद्ध स्वरूपको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है परंतु जो जीव ऊपर लिखे अनुसार आत्माके स्वरूपको नहीं समझता, वह इन तीनों लिंगोंके धारण करनेको भी आत्माका स्वरूप समझलेता है और इसीलिये उनकी वासना पूरी होनेमें ही अपना सुख समझता है । तथा उस वासनाको पूरी करनेके लिये अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करता है और संसारमें परिभ्रमण करता है । इसलिये प्रत्येक भव्य जीवको अपने आत्माका स्वरूप जानकर इन तीनों लिंगोको आत्मासे सर्वथा भिन्न समझना चाहिये और उनके निमित्तसे होनेवाले समस्त पापोंका त्यागकर मोहनीय कर्मोको नाश करनेका प्रयत्न करना चाहिये जिससे कि आत्मा निराकुल होकर आत्मामें लीन हो जाय और शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करले । यही उसके कल्याणका मार्ग है ।। १६९ - १७० ।।

आगे—पर पदार्थोंमें कौन रति करता है और कौन अरति करता है यही दिखलाते हैं ।

प्रश्न—अरतिं को रतिं स्वामिन् ! करोति वद मे परे ?

अर्थ– हे स्वामिन्! अब कृपाकर मुझे यह बतलाइये कि पर पदार्थोंमें

कौन रति करता है और कौन अरति करता है ?

उत्तर—सुचेतनेऽचेतन एव चार्थे मूर्खो ह्यबोधाच्च तयोः प्रकृत्या।
करोति सार्द्धं ह्यरतिं रतिं च तस्यापराधाद्भवतीह दुःखी॥१७१
को चेतनोऽचेतन एव चार्थो स्वस्वस्वभावे वसति स्वचिन्हैः।
रतिस्ततो मेऽस्त्यरतिर्न सुज्ञः मत्वेति तृप्तो निजचित्स्वभावे ॥१७२

अर्थ—आत्माके स्वरूपको न जाननेवाला अज्ञानी पुरुष अपने अज्ञानके कारण चेतन अचेतन समस्त पदार्थोंमे अनादिकालसे लगे हुए मोहनीय कर्मके उदयके स्वभावसे रति भी करता है और अरति भी करता है। तथा उस रति वा अरति करनेके अपराधसे इस संसारमे परिभ्रमण करता हुआ महादुःखी होता है। परतु जो जीव अपने आत्मा के स्वरूपको जानता है वह ज्ञानी पुरुष यही मानता है कि इस ससारमें चेतन वा अचेतनरूप जितने पदार्थ हैं वे सब अपने अपने गुण वा चिन्होंके साथ साथ अपने ही अपने स्वभावमे रहते है। अतएव उन पदार्थोंमें न तो मेरा राग है और न मेरा द्वेष है। मैं रति अरति दोनोंसे सर्वथा रहित हू। यही समझ कर वह अपने चैतन्यरूप स्वभावमे ही सदाकाल तृप्त रहता है।

भावार्थ—यद्यपि समस्त पदार्थ आकाशमे रहते है तथापि वे यथार्थ दृष्टिसे अपने प्रदेशोंमे ही रहते हैं तथा उन सब पदार्थोंका परस्पर एक दूसरेसे कोई किसी प्रकारका संबध ही नहीं रहता है। तब फिर उनमे रागद्वेष उत्पन्न कर कर्मबधन करना दुःख का ही कारण है। परपदार्थमें राग उत्पन्न कर लेना ही चोरी है और इसीलिए चोरको दंड मिलता है। अपना पदार्थ लेलेनेमें कभी किसीको दंड

नहीं मिलता । इसी प्रकार परपदार्थोंमें राग करना एक प्रकार से चोरी है और इसीलिए परपदार्थोंमें रागद्वेष करनेवाला कर्म बंधनकर दुःखी होता है । अतएव अपने आत्माका यथार्थ स्वरूप जानकर अपने ही आत्मामें संतुष्ट रहना चाहिये । पर पदार्थोंसे सब प्रकार का रागद्वेष छोड देना चाहिये । ऐसा करनेसे कर्मोंका बंधन नहीं होता तथा नवीन कर्मोंका बंध न होनेसे और पूर्वसंचित कार्योंका नाश होने से शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त हो जाती है । यही आचार्योंके कहनेका अभिप्राय है ।

आगे आत्माको जाननेवाला क्या करता है और नहीं जानने वाला क्या करता है यही दिखलाते हैं ।

प्रश्न——अन्तर्दृष्टिर्बहिर्दृष्टिः स्वामिन् किं कुरुते वद ?

अर्थ——हे स्वामिन्! अब यह बतलाइये कि आत्माके ऊपर अपनी दृष्टि रखनेवाला अर्थात् आत्माके स्वरूपको जाननेवाला क्या करता है और बाहरके पदार्थोंपर दृष्टि रखनेवाला बहिरात्मा क्या करता है ।

उत्तर-**यस्यास्ति जन्तो बहिरात्मदृष्टिः विश्वासधारा बहिरेव निंद्यं ।**
पतत्यवश्य कुटिलप्रकृत्या जार्यादिजाले विषमे व्यथादे ॥१७३
यस्यास्ति जन्तोश्च निजात्मदृष्टि-र्विश्वासधारात्मपदे पवित्रे ।
स्वराज्यलक्ष्मीःसुख शान्तिदात्रीं जिनेन्द्रवाणीव भवेत्समर्था १७४

अर्थ—जो जीव अपनी दृष्टि आत्मासे भिन्न पुद्गलादिक पर पदार्थोंमे ही रखता है तथा अपना विश्वास निंदनीय बाह्य पदार्थोंमें ही रखता है वह जीव अपने कुटिल स्वभाके कारण अत्यंत दुःख देनेवाले और अत्यंत विषम ऐसे स्त्री, पुत्र आदि कुटुंब के जालमें वा धनादिकके

जालमें अवश्य फसजाता है। परतु जो जीव अपनी दृष्टि अपने ही आत्मामें रखता है तथा अपना विश्वास अत्यंत पवित्र ऐसे अपने शुद्ध आत्मामे ही रखता है उसके लिये जिस प्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेवकी वाणी समस्त जीवोंको सुख और शान्ति देनेमें समर्थ होती है उसी प्रकार आत्माकी शुद्धतारूप स्वराज्य लक्ष्मी सब प्रकारके सुख और शाति देनेमें ही समर्थ होती है।

भावार्थ—जो जीव अपने आत्माके स्वरूपको नहीं जानता केवल बाह्य विभूति में ही उलझा रहता है उन्हींको अपना कल्याणकारी समझता है और उन्हींमे अपना विश्वास करता है वह पुरुष फिर उस बाह्य विभूति में ही रहजाता है, उन्हींके जालमें फस जाता है और अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करता हुआ अनत कालतक संसार सागरमें परिभ्रमण किया करता है। परंतु जो पुरुष अपना विश्वास केवल अपने आत्मापर ही करता है उसीमे लीन रहता है, बाह्य विभूतिको हेय समझता है, इसीलिये उसमे कभी रागद्वेष नही करता तथा रागद्वेष उत्पन्न न करनेके कारण जो समस्त पापोंसे बच जाता है। जो केवल अपने आत्मामे लीन होकर उसीका ध्यान करता है वह पुरुष शीघ्र ही संचित कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त करलेता है। अतएव प्रत्येक भव्यजीवको बाह्यविभूति को वा स्त्री पुत्रादिक कुटुंबको हेय समझकर उनसे ममत्व नहीं करना चाहिये तथा आत्मामें लीन होकर कर्मोंको नष्टकर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिये। यही आत्माके कल्याणका मार्ग है।

आगे निंद्य मार्गसे कौन चलता है और श्रेष्ठ मार्गसे कौन चलता है यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—को याति निंद्यमार्गेण न को याति गुरो वद ।

अर्थ—हे स्वामिन् अब यह बतलाइये कि निंदनीय मार्गसे कौन चलता है और श्रेष्ठ मार्गसे कौन चलता है ?

उत्तर–यात्येव मार्गेण भयंकरेण दुःखप्रदेनैव सदैव मूर्खः ।
शुद्धेन न प्रेरणतोऽपि याति येनात्मशुद्धिः सहजा भवेद्धि ॥१७५॥
न यात्यमार्गेण निजात्मनिष्ठो दुःखप्रदेनैव भयंकरेण
यात्येव शुद्धेन शिवप्रदेन येनात्मसिद्धिः सहजास्ति तस्य ॥१७६

अर्थ—आत्माके स्वरूपको न जाननेवाला अज्ञानी पुरुष सदाकाल अत्यंत दुःख देनेवाले और अत्यंत भयकर ऐसे पापमार्गसे ही गमन करता है। निर्ग्रंथ गुरुओंके द्वारा प्रेरणा करनेपर भी शुद्ध मार्गसे कभी गमन नहीं करता। यदि वह शुद्ध मार्गसे गमन करने लगे तो उसके आत्माकी शुद्धि सहज रीतिसे ही हो जाय। परंतु जो पुरुष अपने आत्मामें लीन रहता है वह अत्यंत दुःख देनेवाले भयकर पाप मार्गोसे कभी गमन नहीं करता वह तो मोक्ष देनेवाले शुद्ध मार्गसे ही गमन करता है और इसीलिए उसके आत्माकी सिद्धि सहज रीतिसे हो जाती है।

भावार्थ—आत्माके स्वरूपको न जाननेवाला जीव स्त्री. पुत्र आदि कुटुंब में वा धनादिक विभूति में ही सुख मानता है और उन्हीका संग्रह करनेमें वा उनकी रक्षा करनेमें सदाकाल तल्लीन रहता है तथा उन धनादिक का संग्रह करनेके लिये अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न

करता रहता है। वह घोर परिश्रम करके धनादिक का संग्रह करता है तथा उसकी रक्षाके लिए अपने प्राण तक देनेको तैयार रहता है और मरने मारनेको तैयार रहता है। तथा उस धनका उपभोग करते समय न जाने कैसे कैसे पाप उत्पन्न करता है और इस प्रकार नरक निगोदमे पडकर वह दु:ख भोगता है। इस बीचमें यदि भाग्योदयसे कोई निर्ग्रंथ गुरु मिल जाते है और वे इस मार्गको छोडकर मोक्षमार्ग मे चलनेके लिए उपदेश देते है वा इन पापोंको छोडनेका तथा रत्नत्रय धारण करनेका उपदेश देते है तो वह उस उपदेश को ठीक मानता हुआ भी उसपर चलनेका प्रयत्न नहीं करता अथवा यों कहना चाहिये कि मोहनीय कर्मका उदय उसको उस शुद्ध मार्गसे चलने नहीं देता। मोहनीय कर्मके उदयसे उसकी बुद्धि विपरीत हो जाती है और फिर वह विपरीत बुद्धि ससार मार्गमे ही लग जाती है मोक्षमार्गमें नहीं लग सकती। परतु जो पुरुष उस मोहनीय कर्मको नष्टकर अपने आत्माके स्वरूपको पहचानने लग जाते है वे पुरुष फिर बाह्य विभूति को हेय समझते है और इसीलिए उसका त्याग कर आत्मलीन हो जाते है। तथा इस प्रकार वे मोक्षमार्गमे लगकर आत्माका कल्याण कर लेते है। प्रत्येक भव्यपुरुष को भी इसी प्रकार अपने आत्माका कल्याण कर लेना चाहिये ॥ १७५ - १७६ ॥

आगे ज्ञानी और अज्ञानी संसारके पदार्थोंको किस प्रकार मानता है यही बतलाते है।

प्रश्न—सुज्ञो मूर्खः कथं वस्तु मन्यते वद मे प्रभो ?

अर्थ—हे प्रभो ! अब यह बतलाइये कि ज्ञानी पुरुष संसारके पदार्थोंको कैसा मानता है और अज्ञानी पुरुष संसारके पदार्थोंको कैसा मानता है ?

उत्तर—पश्यामि किंचित्सकलेन्द्रियैश्च चित्तेन वस्तु प्रविचिन्तयामि।
तदेव मे स्यादिति मन्यमानोऽज्ञोभवाब्धौ भ्रमतीह मूर्खः
पश्यामि किंचित्सकलेन्द्रियैश्च चित्तेन वस्तु प्रविचिन्तयामि ।
तन्नैव मे स्यादिति मन्यमानः सुज्ञः स्वभावे रमते पवित्रे ॥१७८॥

अर्थ—इस संसारमें मैं अपनी समस्त इन्द्रियोंसे जो कुछ देखता हूं वा अपने चित्तसे जो कुछ चिंतवन करता हूं वह सब मेरा है, इसप्रकार अपने अज्ञानके कारण मानता हुआ अज्ञानी पुरुष इस संसार सागर में चिरकालतक परिभ्रमण करता रहता है। परंतु आत्माके स्वरूपको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष यही मानता है कि इस संसारमें मैं जो जो कुछ अपनी समस्त इन्द्रियोंसे देखता हूं वा अपने हृदयसे जिन जिन वस्तुओंका चिन्तवन करता हूं वह सब मेरा नहीं है मेरा आत्मा उन सबसे भिन्न है अथवा ये सब पदार्थ मेरे आत्मासे सर्वथा भिन्न है। इसप्रकार मानता हुआ वह ज्ञानी पुरुष अपने आत्माके पवित्र स्वभावमें ही लीन रहता है।

भावार्थ—इन्द्रियोंसे पुद्गल पदार्थ ही देखा जा सकता है वा जाना जा सकता है। परंतु पुद्गल पदार्थ आत्मासे सर्वथा भिन्न है पुद्गल जड है आत्मा चैतन्य है। फिर भी उस जड पदार्थको अपना मानना अज्ञानता है और यही अज्ञानता संसारमें परिभ्रमण करानेका कारण है। अतएव आत्माके स्वरूपको समझकर आत्माके रत्नत्रय वा

उत्तम क्षमा आदि धर्मोंको ही अपना समझना चाहिये उन्हीं में लीन होना चाहिये। पुत्र स्त्री आदि कुटुंबवर्गसे सब तरहका मोह छोड देना चाहिये तथा ससार शरीर और भोगोंसे विरक्त होकर ध्याना दिक के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिये। यही आत्माके लिये कल्याणकारी है।

आगे—ज्ञानी और अज्ञानी कहा सुख मानते हैं यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—मूर्खः क मन्यते सौख्यं सुज्ञो वा वद मे प्रभो ?

अर्थ—हे प्रभो अब कृपाकर यह वतलाईये कि अज्ञानी पुरुष सुख कहां मानता है और ज्ञानी पुरुष सुख कहा मानता है।

उत्तर—स्वतत्त्वशून्यो विषयाश्रितो यः स मन्यतेऽज्ञानत एव मोक्षम्।
बाह्ये पदार्थे मलिनेऽतिनिंद्ये श्वास्थनीव मूर्खश्च मके वराहः १७९
स्वतत्त्ववेदी स्वसुखाश्रितश्च परे व्यथादे हि सुखं न मत्वा।
स्वप्नेपि तास्मिन्न रुचिं करोति यथामतिश्चाक्षचयेऽतिनिंद्ये ॥१८०

अर्थ—जिस प्रकार कुत्ता हड्डी के चबानेमें ही सुख मानता है अथवा जिस प्रकार सूअर मलके भक्षण करनेमे ही सुख मानता है उसी प्रकार अपने आत्माके स्वरूपको न जाननेवाला और सदाकाल विषयों के ही आधीन रहनेवाला अज्ञानी पुरुष अत्यत निंदनीय और अत्यंत मलिन ऐसे बाह्य पदार्थोंमें ही सुख मानता है और इस प्रकार के अज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति मानता है। परतु जो पुरुष आत्माके स्वरूपको जानता है, अपने आत्मासे उत्पन्न हुए सुख में निमग्न रहता है और इसीलिये जो यथार्थ बुद्धिको धारण करता है वह पुरुष आत्मासे सर्वथा भिन्न, अत्यत दुःख देनेवाले और अत्यत निंदनीय

ऐसे इन्द्रियोंके समूह में कभी सुख नहीं मानता और न वह कभी स्वप्नमें भी उन में किसी प्रकारकी रुचि करता है ।

भावार्थ—इन्द्रियोंके विषय सब आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं, अत्यत निंद्य है और कर्मों के उदय के आधीन है । उनको प्राप्त करनेके लिये महा पाप उत्पन्न करने पडते हैं और इसलोक में भी महादुःख भोगने पडते हैं । हाथी मछली, भौंरा पतंगे और हिरण आदि जीव एक एक इन्द्रिय के आधीन होनेके कारण वध बंधन आदि अनेक प्रकारके दुःख भोगते हैं, फिर भला जो जीव पाचों इन्द्रियोंके आधीन रहते हैं उनका तो कहना ही क्या है । वे तो महादुःख भोगते ही हैं । इतना सब होनेपर भी वह इन्द्रियो का सुख कभी स्थिर नहीं रहता, क्षणभर में नष्ट हो जाता है । इसके सिवाय उन इन्द्रियोंके सुख से इन्द्रिया ही तृप्त होती हैं, उससे आत्माको सुख नहीं मिलता । आत्माको तो उस इन्द्रिय सुख के कारण ही नरकादिक के दुःख भोगने पडते हैं । इसीलिये आत्माके स्वरूपको न जाननेवाला ही उसमें रुचि रखता है । वही अज्ञानी उस इन्द्रियोंके सुखको सुख मानता है और इसीलिये वह संसार में परिभ्रमण करता है । आत्मा के स्वरूपको जाननेवाला भव्यजीव उन इन्द्रियों के समस्त सुखोंको हेय समझकर दूरसे ही उनका त्याग कर देता है। स्वप्न में भी कभी उस सुखको सुख नहीं मानता । किंतु उस सुखको दुःख देनेवाला ही मानता है । वह तो अपने आत्मासे उत्पन्न हुए सुखको ही सुख मानता है और इसीलिये उसीमें लीन होकर कर्मोंको नाश कर देता है और मोक्ष प्राप्त कर आत्माका यथार्थ कल्याण कर लेता है ।

आगे—ज्ञानी और अज्ञानी क्या पूछता है यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—ज्ञानी मूर्खः पुनः स्वामिन् किं किं पृच्छति मे वद?

अर्थ—हे स्वामिन्! ज्ञानी पुरुष वार वार क्या पूछता है और अज्ञानी पुरुष क्या पूछता है कृपाकर यह बतलाइये।

उत्तर—यदेव मूर्खः खलु पृच्छतीह तदेव पृष्टं भुवि यत्र तत्र।
तदेव कर्तुं यतते सदा यदनन्तवारं च कृतं प्रभुक्तम् ॥१८१॥
तदेव प्राप्तु यतते प्रभुक्तं यदेव भुक्तं न कदापि लब्धम्।
तदेव ज्ञानी खलु पृच्छतीति स्वप्नेपि यन्नैव कदापि पृष्टम् ॥१८२

अर्थ—आत्माके स्वरूपको न जाननेवाला अज्ञानी पुरुष इस ससारमें वही प्रश्न पूछता है जो इस संसारमे जहा तहा सब जगह पूछा जाता है। इसी प्रकार वह पुरुष सदा काल उसी कार्य को करनेका प्रयत्न करता है जिसको वह अनतवार कर चुका है और अनंतवार जिसका उपभोग कर चुका है। परतु आत्माके स्वरूपको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष उसी पदार्थको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है जो आज तक कभी प्राप्त नहीं हुआ है तथा उसी पदार्थके उपभोग करनेका प्रयत्न करता है जिसका कि उपभोग आज तक कभी नहीं किया है और उसी प्रश्नको वह पूछता है जो स्वप्नमें भी कभी नहीं पूंछा था।

भावार्थ— इस संसारमे जितनी विभूति दिखाई पड़ती है वह सुख इस जीवको अनंतवार प्राप्त हो चुका है। सांसारिक जितने कार्य हैं वे सब अनतवार किये जा चुके हैं। और जितने भोगोपभोग हैं वे सब अनंतवार भोग जा चुके हैं तथापि यह संसारी प्राणी आत्माके

स्वरूपको न जानने के कारण वार वार उन्हीं को पूछता है। वार वार उन्हींको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है और वार वार उन्हीं को भोगनेका प्रयत्न करता है। परंतु ज्ञानी पुरुष आत्माके स्वरूपको समझने के कारण इन सब बातों को समझता है और इसीलिये वह इन सबसे अपने ममत्व का त्याग कर देता है। फिर वह ज्ञानी पुरुष कभी उन पदार्थोंको नहीं पूछता, न उनके प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है और न कभी उनके भोगने का प्रयत्न करता है। वह यह भी समझता है मैंने आजतक अपने आत्माका शुद्धस्वरूप प्राप्त नहीं किया है अथवा केवलज्ञान प्राप्त नहीं किया है या मोक्ष प्राप्त नहीं की है। अतएव वह इन्हीं की प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है, इन्हींका उपभोग करनेके लिये प्रयत्न करता है और इन्हींका स्वरूप पूछनेके लिये प्रयत्न करता है। यही आत्माके कल्याणका कारण है और प्रत्येक भव्य जीवको सांसारिक विभूतिका मोह छोडकर वा कुटुंबादिकका मोह छोडकर आत्माकी शुद्ध अवस्था प्राप्त करनेके लिये सदाकाल प्रयत्न करते रहना चाहिये।

आगे—परपदार्थोंमें कौन सुख मानता है और कौन नहीं यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—को हठान्मन्यते को वा न सौख्यं परवस्तुनि।

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि पर पदार्थोंमें कौन सुख मानता है और कौन नहीं मानता।

उत्तर—

नास्तीन्द्रियार्थेषु सुखं च किंचित् तथापि मूर्खः खलु मन्यते कौ।

यथा जलं स्यान्न मरीचिकायां मूर्खो मृगो याति तथापि पातुम् ॥
स्वप्नेऽपि सौख्यं न भुवीन्द्रियार्थे स्वतत्त्ववेदीति सुमन्यमानः ।
तस्मात्तिहेतो यतते ततो न ह्यहोऽस्ति मुज्ञस्य कृतिर्यथार्था ॥१८४

अर्थ—जिसप्रकार मरीचिकामें जल नहीं होता तथापि मूर्ख हिरण वहांपर जल पीनेकेलिये पहुचता है । इसीप्रकार यद्यपि इन्द्रियोंके विषयोंमें किंचित् मात्र भी सुख नहीं है तथापि आत्माके स्वरूपको नहीं जाननेवाला अज्ञानी पुरुष उन इन्द्रियोंके विषयोंमें ही सुख मानता है । परतु आत्माके स्वरूपको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष यही मानता है कि इस ससारमें इन्द्रियोंके विषयोंमें कभी स्वप्नमें भी सुख नहीं मिल सकता । तथा इसीलिये वह उन इन्द्रियोंके विषयोंको प्राप्त करने के कभी प्रयत्न नहीं करता । इसीलिए आश्चर्य के साथ कहना पडता है कि इस ससारमें ज्ञानी पुरुषोंकी समस्त कार्य यथार्थ ही होते हैं ।

भावार्थ—मरुस्थल वा मारवाड मे चारों ओर बालू ही बालू होती है । तथा उस बालूकी चमक दूरसे जलके समान जान पडती है इसीको मरीचिका कहते है । हिरण इसी मरीचिका को देखकर चारों ओर दौडता फिरता है जहा जाता है वहींसे दूर स्थानपर जलसा जान पडता है । जब वहा पहुचता है तो वहासे कुछ और दूर या जहासे आया है वहापर जल जान पडता है । इस प्रकार वह दौडता दौडता थक जाता है तथापि उसे जल नहीं मिलता । इसी प्रकार अज्ञानी पुरुष इंद्रियोंके विषयोंमें सुख मानते हैं । परंतु इंद्रियोंके विषयोंसे आजतक किसीको सुख प्राप्त नहीं हुआ है और न कभी किसीको हो सकता है । तत्त्वज्ञानी पुरुष इस बातको समझता है और इसीलिए वह इंद्रिय-

जन्य सुखके लिए कभी प्रयत्न नहीं करता। वह तो आत्मजन्य यथार्थ सुखको ही सुख मानता है और इसीलिए वह उसीकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करता है। तथा इसीलिए उसके समस्त कार्य यथार्थ समझे जाते हैं॥ १८३ १८४॥

आगे ज्ञानी और अज्ञानी कहां सोता है तथा कहां जगता है यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—मूर्खं स्वपिति सुज्ञः क्व क्व जागर्ति प्रभो वद।

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि मूर्ख पुरुष कहां सोता है और कहां जगता है तथा ज्ञानी पुरुष कहा सोता है और कहा जगता है।

उत्तर-चिन्तामणेः कल्पतरोः समाने सुप्तोस्ति मूर्खः सुखदे स्वराज्ये।
गृहे मिथो वैरविरोधकार्ये दुःखप्रदे जाग्रति चातिनिंद्ये॥ १८५॥
ज्ञानी मिथो वैरविरोधकार्ये ह्यनात्मके क्लेशकरेऽस्ति सुप्तः।
शिवप्रदे स्वात्मविधेर्विधाने स्वसाधने जाग्रति हीव साधुः॥१८६

अर्थ—आत्माकी शुद्धता रूप स्वराज्य चिन्तामणि वा कल्पवृक्षके समान सुख देनेवाला है। उसीमें यह मूर्ख वा अज्ञानी सदाकाल सोता रहता है। तथा जो घरबार परस्पर वैर विरोध करनेवाला है अत्यंत निंद्य है और अत्यत दुःख देनेवाला है उसमे सदा जगता रहता है। परंतु आत्माके स्वरूपको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष आत्मासे सर्वथा भिन्न और अत्यंत क्लेश उत्पन्न करनेवाले परस्पर वैर विरोध करनेवाले कार्योंमे सोता रहता है और मुनिराजके समान मोक्ष प्राप्त करानेवाले

आत्माको शुद्ध करनेवाले समस्त क्रियाकांडोंमें तथा आत्माको सिद्ध करनेवाले समस्त साधनों में जगता रहता है।

भावार्थ—चिन्तामणि एक रत्न होता है। अपने मनमें चिन्तवन कर जो कुछ उससे मागो वही उससे मिल जाता है। यह उसका स्वभाव है। इसी प्रकार कल्पवृक्षसे भी इच्छानुसार फल मिल जाता है। जिस प्रकार इन दोनोसे इच्छानुसार फल मिल जाता है। उसी प्रकार शुद्ध आत्मासे अनतसुख की प्राप्ति हो जाती है। जो जीव इस सुखके लिए जगता रहता है, इसकी रक्षा करता रहता है, इसको नष्ट नहीं होने देता, कषायादिक चोरोंसे लूटने नहीं देता और पूर्ण प्रयत्न के साथ इसकी रक्षा करता रहता है, वह पुरुष मोक्ष प्राप्त कर उस अनंतसुख में लीन हो जाता है। आत्माके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले साधुजन वा निर्ग्रंथ गुरु ही इस अपने आत्माकी शुद्धता की रक्षा कर सकते हैं। वे ही पुरुष इसके लिए जगते रहते है वा प्रयत्न करते रहते हैं। जो जीव आत्माके स्वरूपको जानते ही नहीं है वे इसकी ओर लक्ष्य नहीं देते, वे तो इसके लिए सोतेसे बने रहते है, जगनेका वा प्रयत्न करनेका कभी उद्योग नहीं करते। वे तो घरबारके लिए प्रयत्न करते हैं। परस्पर लडाई झगडा करनेवाले कार्योके लिए प्रयत्न करते रहते है और दु:ख देनेवाले पाप कार्योके लिए प्रयत्न करते रहते है तथा इस प्रकार महापाप उत्पन्न कर संसारमे परिभ्रमण किया करते है साधुपुरुष इन दु ख देनेवाले पापोके लिये कभी जगते नहीं, इसके लिए वे कभी प्रयत्न नहीं करते और इसीलिए वे ससार में कभी परि-भ्रमण नही करते। उन्हे तो आत्माके शुद्ध स्वरूप मे लीन रहने से

कभी अवकाश ही नहीं मिलता और इसीलिए वे मोक्ष प्राप्त कर अपने आत्मा का कल्याण कर लेते है ॥ १८५ १८६ ॥

आगे मूर्ख और ज्ञानी कहा कहा रहना चाहते हैं यही दिखलाते है।

प्रश्न—क्व स्थातुमिच्छति स्वामिन! मूर्खः सुज्ञो वद प्रभो।

अर्थ—हे स्वामिन्! हे प्रभो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि मूर्ख कहा रहना चाहता है और ज्ञानी कहा रहना चाहता है।

उत्तर—देहेऽपि तिष्ठाम्यहमेव नाके जले स्थले खे भुवने वनादौ।
सदेति मूर्खो हृदि मन्यमानो भ्रमत्यवश्य विषमे भवाब्धौ ॥१८७
तिष्ठामि नाह मलिने च देहे जले स्थले खे भुवने श्मशाने।
तिष्ठामि सुज्ञश्च चिदात्मरूपे स्वीयप्रदेशेऽखिलदोषदूरे ॥ १८८ ॥

अर्थ—आत्माके स्वरूपको न जाननेवाला अज्ञानी पुरुष सदाकाल यही भावना करता रहता है कि मैं चाहे स्वर्गमें रहूं, चाहे जलमें रहूं, चाहे स्थलमे रहू, चाहे आकाशमें रहू, चाहे वनमे रहू और चाहे किसी राजभवनमें रहूं परंतु मैं रहू अपने ही शरीर मे। अपने शरीरको छोड-कर मै कहीं न रहू। इसी भावनासे वह जीव इस अत्यत भयकर ऐसे ससाररूपी महासागरमे अवश्य परिभ्रमण किया करता है। परंतु जो आत्माके स्वरूपको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष है, वह यही भावना करता है कि मै चाहे जलमें रहू, चाहे स्थलमे रहू, चाहे आकाशमें रहू, श्मशानमें रहू और चाहे इस लोकमे कहीं भी रहूं. परतु मै इस मलिन शरीरमें कभी नहीं रहना चाहता। मै तो समस्त दोषोंसे रहित ऐसे चैतन्यमय अपने आत्माके प्रदेशोंमें ही रहना चाहता हू।

भावार्थ—आत्माके स्वरूपको न जाननेवाले अज्ञानी पुरुषके हृदयमें

सदाकाल शरीरसे ही ममत्व बना रहता है वह शरीर को ही आत्मा समझता है और इसीलिए शरीरको छोडना नहीं चाहता। परंतु जो पुरुष आत्माके स्वरूपको जानता है वह इस शरीरको आत्मासे सर्वथा भिन्न समझता है और अपने आत्माके लिए दुःखदायी समझता है। इसीलिए वह शरीरके ममत्वका सर्वथा त्याग कर देता है। और चिदानन्दमय आत्मामें ही लीन रहनेका प्रयत्न करता है। वह समझता है कि शरीर में ममत्व करनेसे नरकादिक के दुःख भोगते है तथा आत्मामे लीन रहने से समस्त पापोंसे बच जाता हू और अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त कर लेता हूं। यही समझकर समस्त भव्यजीवोंको शरीरसे ममत्व का त्याग कर देना चाहिये और अपने आत्मामें लीन होकर मोक्ष प्राप्त करनेका उपाय करते रहना चाहिए ॥ १८७ - १८८ ॥

आगे मूर्ख और ज्ञानी किस किस की शुद्धि करते हैं यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—कस्य शुद्धिं करोत्येव मूर्खः सुज्ञो वद प्रभो ?

अर्थ—हे प्रभो अब कृपाकर यह बतलाइये कि मूर्ख पुरुष किस की शुद्धि करता है और ज्ञानी पुरुष किसकी शुद्धि करता है ?

उत्तर—त्यक्त्वात्मशुद्धिं यतते यथेष्ट स्वतत्त्वशून्यस्तनुशुद्धिहेतो. ।
यथान्यवस्त्रादिविशुद्धहेतोस्त्यक्त्वा स्ववस्त्रं रजकः प्रमूढ. ॥१८९
त्यक्त्वेति सुज्ञस्तनुशुद्धिमेव निजात्मशुद्धिं स्वकृतिं करोति ।
यतिर्यथा बाह्यसुखं विहाय स्वसौख्यहेतोर्यतते प्रवीरः ॥ १९० ॥

अर्थ—जिस प्रकार मूर्ख धोबी अपने वस्त्रोको शुद्ध नहीं करता किंतु अन्य यजमानोंके वस्त्रोको शुद्ध करनेका प्रयत्न करता रहता है।

उसी प्रकार आत्माके स्वरूप न जाननेवाला अज्ञानी पुरुष अपने आत्मा की शुद्धिके लिए तो कुछ भी प्रयत्न नहीं करता किंतु इस शरीरकी शुद्धि के लिए भरसक प्रयत्न करता रहता है । तथा जिस प्रकार धीर वीर मुनिराज ससारके बाह्य सुखोको छोडकर अपने आत्मजन्य सुखके लिए प्रयत्न करते रहते हैं, उसी प्रकार आत्माके स्वरूप को जाननेवाला भव्यपुरुष शरीरको शुद्ध करनेका तो त्याग कर देता है और अपने आत्माकी शुद्धि के लिए प्रयत्न करता रहता है तथा इस प्रकार वह अपने आत्माका कर्तव्य पालन कर लेता है ।

भावार्थ—ससारमे जितने प्राणी है वे सब इस शरीरको ही शुद्ध करने का प्रयत्न करते रहते हैं परंतु मह। अपवित्र रजोवीर्यसे बना हुआ है। हड्डी, मास, रुधिर आदि अत्यत अपवित्र पदार्थोंसे भरपूर है। और महा अपवित्र मलमूत्र इसमे भरा हुआ है। ऐसा यह निंद्य शरीर अनतवार शुद्ध करनेपर भी कभी शुद्ध नहीं हो सकता । यह शरीर इतना अपवित्र है कि आत्माके निकल जानेपर मृतक शरीर को स्पर्श करनेवाला मनुष्य स्नान करलेनेपर ही स्पर्श करने योग्य माना जाता है तथा इसकी भस्म भी स्पर्श करनेयोग्य नहीं मानी जाती। ऐसा अपवित्र शरीर भला कब और कैसे शुद्ध हो सकता है अर्थात् कभी नहीं हो सकता। अतएव शरीर शुद्ध करनेका प्रयत्न करना सर्वथा व्यर्थ है। इस संसार में इस अपवित्र शरीरके संबंधसे ही यह आत्मा मलिन हो रहा है। शरीर का संबंध छूट जानेसे यह आत्मा अत्यंत शुद्ध और परमपूज्य हो जाता है। अतएव शरीरके ममत्वका त्याग कर आत्माको शुद्ध करनेका प्रयत्न करना चाहिये। आत्माको शुद्ध कर मोक्ष प्राप्त

करलेना ही इस जीवका सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है, और यही ससारमे सार है ॥ १८९ - १९० ॥

आगे ज्ञानी पुरुष कहा संतुष्ट होता है और अज्ञानी कहा संतुष्ट होता है यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—क्व तुष्यति गुरो मूर्ख. सुज्ञो मे साम्प्रत वद।

अर्थ—हे गुरो! अब कृपाकर यह बतलाइये कि मूर्खपुरुष कहा संतुष्ट रहता है और ज्ञानी पुरुष कहा संतुष्ट रहता है?

उत्तर—मूर्ख सदा तुष्यति कामभोगे ह्यादौ प्रिये वै कटुके फलान्ते।
कुरक्तपाने च यथा जलौका यथैव धूर्ता परपीडने च ॥१९१॥
आद्यन्तमध्येऽपि सुधासमाने सुखप्रदे ज्ञानमये स्वभावे।
सुज्ञ. सदा तुष्यति दिव्यधाम्नि यथैव हसस्सरसश्च तोये ॥१९२

अर्थ—जिसप्रकार जोंक बिगडे हुए गदे रुधिर को पीनेमें ही संतुष्ट रहती है तथा जिसप्रकार धूर्त पुरुष दूसरोको दु.ख देनेमें ही संतुष्ट रहता है। उसी प्रकार आत्माके स्वरूपको न जाननेवाला अज्ञानी पुरुष सेवन करते समय अच्छे लगनेवाले किंतु फल देते समय अत्यंत कटुक वा महादु ख देनेवाले इन काम भोगोंमें ही सदाकाल सतुष्ट रहता है। तथा जिसप्रकार हस महासरोवरके जलमे ही सतुष्ट रहता है उसीप्रकार आत्माके स्वरूपको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष आदि मध्य और अत समयमें अर्थात् सब समयोमें और सब स्थानोंमे अमृत के समान सुख देनेवाले तथा केवलज्ञानमय दिव्य ज्योतिका स्थान ऐसे अपने ज्ञानमय स्वभावमें ही सदाकाल सतुष्ट रहता है।

भावार्थ—यदि जोंकको स्तनके मुखपर भी लगा दिया जाये तो

वह दूध को छोडकर रुधिर ही पीती है। इसी प्रकार यदि किसी धूर्त पुरुष को किसी सुंदर बालक को खिलाने पिलाने के लिए रख लिया जाय तो भी वह उसके रुलानेमें वा दु:ख देनेमें ही प्रसन्न होता है। इसी प्रकार आत्माके स्वरूप को न जाननेवाले पुरुष सदा कामभोगोंमें ही संतुष्ट रहते हैं। यद्यपि ये कामभोग सेवन करते समय कुछ अच्छे से जान पडते हैं परंतु क्षणभर के बाद ही दु:खदायी जान पडते हैं। जिस प्रकार दाद खुजाते समय कुछ अच्छासा जान पडता है परतु खुजा चुकनेपर उसमें और अत्यंत दु:ख होता है। उसी प्रकार कामभोग भी सेवन करने के अनंतर ही दु:खदायी प्रतीत होते हैं। तथा फल देते समय तो ये कामभोग नरकादिकमें महादु:ख देते हैं। अतएव इनमें संतोष करना अपने आत्माका अहित करना है। आत्माका हित वा आत्माका सुख तो आत्माके ज्ञानमय स्वभाव में है। तथा आत्माका ज्ञानमय स्वभाव सदाकाल सुख देनेवाला है। अतएव भव्यजीवोंको कामभोगोंका त्याग कर अपने स्वभावमें लीन होना चाहिए। यही सुखका साधन है। और यही मोक्ष का साधन है॥ १९१ - १९२॥

आगे ज्ञानी और अज्ञानी आत्माको किस प्रकार देखनेका प्रयत्न करते हैं यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—सुज्ञो मूर्खश्च स्वात्मानं द्रष्टुं वा यतते कथम्?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि ज्ञानी पुरुष आत्माको देखनेके लिए किस प्रकार प्रयत्न करता है और अज्ञानी पुरुष किस प्रकार प्रयत्न करता है?

उत्तर—वाक्कायचित्तैश्च निजात्मशून्यो द्रष्टुं प्रबोध्दुं यतते स्वरूपम्।
तथापि द्रष्टुं स्वपदं न बोध्दु शक्नोत्यबोधात्पतति प्रमादे ॥१९२
वाक्कायचित्तैर्न निजात्मवेदी ज्ञातु च द्रष्टुं यतते स्वरूपम् ।
किन्त्वात्मना चात्मनि चात्मने ह्यात्मान ततो याति पदं यथार्थम् ॥

अर्थ—आत्माके स्वरूपको न जाननेवाला अज्ञानी पुरुष अपने अज्ञानके कारण मन वचन कायसे आत्माके स्वरूपको देखना वा जानना चाहता है। परतु मन वचन कायसे वह अपने आत्माके स्वरूपको न देख सकता है और न जान सकता है, और इसप्रकार केवल प्रमादमें पड जाता है। परतु आत्माके स्वरूपको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष आत्माके स्वरूपको मन वचन कायसे देखने वा जाननेका प्रयत्न नहीं करता। किंतु वह अपने आत्माके द्वारा अपने ही आत्मामे अपने ही आत्माके लिये अपने ही आत्माको देखने और जाननेका प्रयत्न करता है और इसीलिये वह अपने मोक्षरूप यथार्थ पदको प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—आत्माका यथार्थ स्वरूप अमूर्त है। उसमें रूप रस गध स्पर्श आदि इन्द्रियोंसे जानने योग्य गुण कुछ भी नहीं है। रूप रस गध स्पर्श आदि इन्द्रियोंसे जानने योग्य गुण पुद्गलमें ही रहते हैं। इसलिये पुद्गल ही इन्द्रियोसे जाना जाता है वा जाना जा सकता है, आत्मा कभी इन्द्रियोंसे नहीं जाना जा सकता। यद्यपि ससारी आत्माके साथ अनतानत कर्मोंका समूह रहता है और वह कर्मोंका समूह पुद्गलमय ही होता है तथापि वह अत्यत सूक्ष्म होता है और इन्द्रियोंसे कभी नहीं जाना जा सकता वा कभी नहीं देखा जा सकता। अतएव

आत्माके इस यथार्थ स्वरूपको न जाननेवाले ही उस आत्मा को इन्द्रियोंसे जाननेका प्रयत्न करते हैं। यद्यपि मनके द्वारा अमूर्त आत्माका भी अनुभव हो सकता है, परंतु जो आत्माके स्वरूपको जानते हैं और जिनके आत्मामें मोहनीय कर्मके क्षयोपशमादिक होनेसे आत्माको प्रगट करनेवाला वा आत्माको दिखलानेवाला सम्यग्दर्शनरूपी प्रकाश प्रगट होगया है उन्हीं पुरुषोंके मनमे उस अमूर्त आत्माका अनुभव हो सकता है। वास्तवमें देखा जाय तो अमूर्त आत्माका स्वरूप अमूर्त आत्मासे ही जाना जा सकता है। इसीलिये आत्माके स्वरूपको जाननेवाला सम्यग्दृष्टी पुरुष मन वचन कायसे कभी भी आत्माके स्वरूपको जाननेका प्रयत्न नहीं करता। वह तो आत्माके सम्यग्दर्शनमय प्रकाशसे ही आत्माको देखनेका प्रयत्न करता है और उस सम्यग्दर्शनके साथ प्रगट होनेवाली स्वानुभूतिरूप अनुभवसे अथवा स्वपरभेद विज्ञानमय आत्माके यथार्थ ज्ञानसे आत्माको जाननेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार जब वह अपने आत्माको देख जान लेता है तब वह उसके साथ लगे हुए कर्मोंको नष्ट करता है और इस प्रकार आत्माको अत्यत शुद्ध बनाकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। तथा यही आत्माके कल्याणकारी है ॥ १९३-१९४ ॥

आगे अपने आत्माको नया पुराना कौन मानता है यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—**भवाम्यह नवो जीर्ण इति को मन्यते वद ?**

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि मैं नया हूं तथा मै पुराना हूं, इस बातको कौन मानता है और कौन नहीं मानता ?

उत्तर—**जीर्णैश्च देहैरहमेव सार्द्धं जातोऽस्मि जीर्णश्च नवैर्नवोऽहम्।**

मूर्खो ह्यबोधादिति मन्यमानः प्राप्नोति दुःखं वचसाप्यतीतम् ॥
देहस्य सार्द्धं न भवामि जीर्णो नवस्तथा नैव भवामि मध्यः ।
सुज्ञः स्वबोधादिति मन्यमानः प्राप्नोति सौख्यं च गतांतरायम् ॥

अर्थ— शरीरके जीर्ण होनेपर उसके साथ मैं भी जीर्ण होगया हूं तथा शरीरके नवीन होनेपर मैं भी नवीन हूं, इस प्रकार अपने आत्मा को नवीन वा जीर्ण वही मानता है जो अपने आत्माके स्वरूपको नहीं जानता। तथा आत्माके स्वरूपको न जानने रूप अज्ञान के कारण ही ऐसा मानता है और इसीलिए वह वचनसे भी न कहे जानेवाले महा-दुःखोंको पाता है। परंतु अपने आत्माके स्वरूपको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष अपने आत्माका यथार्थ ज्ञान होनेके कारण यही मानता है कि शरीरके जीर्ण होनेसे मै जीर्ण नहीं हो सकता, तथा शरीरके नवीन होनेपर मैं नवीन नहीं हो सकता, और शरीरकी मध्यम अवस्था होने पर मैं मध्यम नहीं हो सकता। तथा इसी यथार्थ ज्ञानके कारण वह जिसमें कभी किसी प्रकार का अंतराय वा विघ्न नहीं होता ऐसे आत्म-जन्य अनंतसुख को प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—वास्तवमें देखा जाय तो यह आत्मा अजर अमर है। अनादिकालसे इसके साथ कर्म लगे हुए है उन्हींके निमित्तसे यह अज्ञानी बन रहा है। उस अज्ञानके कारण प्रतिक्षणमे नवीन कर्मो का बंध करता रहता है और पहलेके बंधे हुए कर्मोंकी निर्जरा करता रहता है, तथा उन कर्मोंका जैसा उदय होता है उसके अनुसार नवीन नवीन शरीर धारण करता है और इंद्रियजन्य सुख वा दुःखोको भोगा करता है। मनुष्य-आयुकर्मके उदयसे जब यह जीव मनुष्य

शरीर धारण करता है तब यह संसारी जीव अपने अज्ञानके कारण शरीरके नवीन होनेसे अपने आत्माको भी नवीन समझ लेता है, जब वह शरीर किशोर अवस्था वा युवावस्था को धारण करता है तब वह अपने आत्माको भी किशोर वा युवा समझ लेता है, तथा शरीरके जीर्ण होनेपर आत्माको जीर्ण समझ लेता है। इसी प्रकार आयु पूर्ण होनेपर जब शरीर नष्ट हो जाता है तब यह संसारी जीव अपने आत्माको मरा समझ लेता है। परतु यह सब उसकी भूल है वा उसका अज्ञान है। शरीरके नष्ट होनेपर आत्मा दूसरे शरीरमें पहुच जाता है फिर उसको मरा हुआ नहीं कह सकते तथा जब शरीरके नष्ट होनेपर उसको मरा हुआ नहीं कह सकते तो शरीरके उत्पन्न होनेपर उस आत्माको नवीन भी नहीं कह सकते। इस प्रकार यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि शरीरके नवीन वा जीर्ण होनेपर यह आत्मा कभी नवीन वा जीर्ण नहीं होता और न कभी मरता है यह आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न है तथा ज्ञान सुखमय है। उस ज्ञान सुखको कर्मोंने ढक रक्खा है इसीलिए कर्मोंके नाश होनेपर वह ज्ञान और सुख पूर्णरूपसे प्रगट हो जाते हैं और फिर वे कभी नष्ट नहीं होते। इसीको मोक्ष कहते हैं।

आगे—तत्त्वोंका स्वरूप ज्ञानी किस प्रकार मानता है और अज्ञानी किस प्रकार मानता है यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—**मूर्खश्च मन्यते तत्त्व कथमज्ञश्च मन्यते।**

अर्थ—हे भगवन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि मूर्ख पुरुष तत्त्वोंका स्वरूप किस प्रकार मानता है और ज्ञानी पुरुष तत्त्वोंका स्वरूप किस प्रकार मानता है।

उत्तर–स्यादेकमेवानुपम हि तत्त्वं मूर्खः कुबोधादिति मन्यमानः।
यथार्थतत्त्वेन विवंचितः कौ जडस्वरूपो भवति स्वयं स. ॥१९७॥
तत्त्वं प्रणीत चिदचित्प्रभेदात्सुखप्रद वै द्विविधप्रकारम्।
ज्ञात्वेति चैव हृदि मन्यमानः स्वजीवतत्त्वे रमते विशुद्धे ॥१९८॥

अर्थ—आत्माके यथार्थ स्वरूपको न जाननेवाला अज्ञानी पुरुष अपने अज्ञानके कारण यही मानता है कि इस संसारमें एक मैं ही उपमा रहित तत्त्व हूं। मेरे सिवाय और कुछ नहीं है। इसप्रकार वह तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपसे वंचित रहकर स्वयं जड स्वरूप हो जाता है। परंतु जो पुरुष आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानता है वह समझता है कि चैतन्य और अचेतन के भेदसे दो प्रकारके तत्त्व निरूपण किये हैं। इस प्रकार अपने हृदयमें दोनोंका स्वरूप जानकर अपने शुद्ध आत्मामें ही लीन रहता है।

भावार्थ—इस संसारमें तत्त्व दो प्रकारके हैं एक चेतन और दूसरे अचेतन। जीव तत्त्व चेतनरूप तत्त्व है और बाकी हैं समस्त तत्त्व अचेतन है जिसमे ज्ञान दर्शन गुण हो, उसको चेतन कहते हैं यह ज्ञान दर्शन गुण जीवमें ही है जीवके सिवाय अन्य किसी मे नहीं हैं। ज्ञानदर्शन आत्माका स्वभाव है। परंतु उस ज्ञानदर्शनको कर्मोंने ढक रक्खा है। कर्म अचेतन है। जब यह जीव क्रोधादिक कषाय उत्पन्न करता है तब उसके आत्माके साथ संसारमें फैली हुई कर्म वर्गणाए मिल जाती है और फिर वे ही कर्मवर्गणाए उदयमें आकर अपना फल देती हैं। वे कर्मवर्गणाएं आठो कर्मरूप परिणत हो जाती हैं, और फिर वे आठों कर्म अपने अपने नामके अनुसार फल देते हैं।

ज्ञानावरण ज्ञानको ढक लेता है, दर्शनावरण दर्शनको ढक लेता है, मोहनीय आत्माको मोहित कर देता है, वेदनीय कर्म ऐन्द्रियिक सुख दुःख का अनुभव कराता है, आयु कर्म इस जीवको शरीर में रोक रखता है, नामकर्मसे शरीरकी रचना होती है गोत्रकर्मसे ऊंच नीचता आती है और अन्तरायकर्म विघ्न करता रहता है । इस प्रकार आठों कर्म इस जीवको दुःख देते रहते हैं, जो जीव आत्मा और कर्म दोनों के स्वरूप को नहीं समझता वह शरीर को ही आत्मा मान लेता है तथा इस प्रकारके अपने अज्ञानके कारण स्वय अचेतन वा जडरूप बन जाता है। परंतु जो पुरुष इन दोनोंके यथार्थ स्वरूपको जानता है वह आत्माके साथ लगे हुए कर्मोंको ही दु खदायी मानता है और इसीलिए वह उन कर्मोंको नष्ट कर अपने आत्माको अत्यत शुद्ध बनानेका प्रयत्न करता रहता है । सबसे पहले वह कषायोंको नष्ट कर आते हुए कर्मों को रोकता है और फिर ध्यानरूप तपश्चरणके द्वारा पहिलेके संचित हुए कर्मोंको नष्ट कर देता है । इस प्रकार वह समस्त कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है । और फिर सदाकाल तक अपने अत्यंत विशुद्ध आत्मामें लीन होकर आत्मजन्य अनंतसुख का अनुभव किया करता है ॥ १९९ - २०० ॥

आगे ज्ञानी परिभ्रमण नहीं करता और अज्ञानी करता है इसका कारण बतलाते हैं ।

प्रश्न—शठो भ्रमति ससारे कथं सुज्ञो न वा प्रभो !

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि अज्ञानी पुरुष इस संसारमें क्यों परिभ्रमण करता है और ज्ञानी क्यो नहीं करता ?

उत्तर–मूर्खो न बुध्वा चिदचित्प्रभेदं स्वच्छन्दरीत्याखिलवस्तु मत्वा।
सन्मार्गमूढो हतधर्मकर्मा भ्रमत्यवश्यं च भवार्णवे हि ॥ १९९ ॥
अजीवतत्त्वं भुवि पंचधा स्यात् स्वचिन्हतश्चैव च मन्यमानः।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयः सुखाब्धिः मत्वेति तृप्तश्च निजस्वभावे २००

अर्थ—आत्माके स्वरूपको न जाननेवाला अज्ञानी पुरुप तत्त्वोंके चेतन अचेतन आदि भेदोंको तो जानता नहीं है, केवल अपनी इच्छा-नुसार समस्त तत्त्वोंका स्वरूप समझलेता है। इसीलिये वह मोक्षके श्रेष्ठ मार्गसे च्युत होजाता है। धर्म कर्म सबको छोड देता है और फिर इस संसाररूपी समुद्रमे अवश्य ही परिभ्रमण करता रहता है। परंतु आत्माके स्वरूपको जाननेवाला ज्ञानी पुरुप अपने अपने चिन्होंसे तत्त्वोंका स्वरूप भिन्न भिन्न मानता है। वह आत्माके स्वरूपको ज्ञान-मय और सुखका समुद्र मानता है तथा अजीवतत्त्वके पांच भेद मानता है। इसप्रकार वह भिन्न भिन्न तत्त्वोंका स्वरूप भिन्न भिन्न मानता है और इसीलिये वह अपने ज्ञानमय आत्मस्वभाव मे ही सदा लीन रहता है।

भावार्थ—तत्त्वोंके मुख्य दो भेद हैं, एक जीव तत्त्व और दूसरा अजीव तत्त्व। उनमेंसे जीव तत्त्व अनंत ज्ञानमय है और अनंत सुखमय है। संसारी जीवोंका वह अनंतज्ञान और अनंतसुख अपने अपने कर्मोंसे ढका हुआ है। जब यह जीव कपायोंका त्याग कर तथा आत्मामें लीन होकर कर्मोंको सर्वथा नष्ट कर देता है तब यह आत्मा परमात्मा बन जाता है और उसी समय उसका अनंतज्ञान तथा अनंतसुख प्रगट हो जाता है फिर वह अनंतज्ञान और अनंतसुख अनंतकाल तक विद्यमान

रहता है। दूसरे अजीव तत्त्वके पाच भेद हैं । पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जिसमे रूपरस गंध स्पर्श हो उसको पुद्गल कहते हैं। उसके सबसे छोटे खंडको परमाणु कहते है। परमाणु अत्यंत सूक्ष्म वा सूक्ष्मसूक्ष्म है। दो चार संख्यात असंख्यात अनत पुद्गल परमाणुओंके समूहको स्कंधपुद्गल कहते है। स्कध भी सूक्ष्मस्थूल के भेदसे दो प्रकार के होते हैं। कर्मवर्गणा आदि सूक्ष्म पुद्गल है तथा पत्थर, मिट्टी आदि जो दिखाई देता है वह सब स्थूल पुद्गल है। शब्द भी पुद्गल है। पुद्गलके अनेक भेद है। जीव और पुद्गल इन दो तत्त्वोंमे चलने की शक्ति है। जो समस्त पदार्थोंको रहनेके लिये स्थान दे उसको आकाश कहते हैं। उसके दो भेद है लोकाकाश और अलोकाकाश। जितने आकाशमें समस्त पदार्थ रहते हैं उसको लोकाकाश कहते हैं। लोकाकाशके वाहर अनंत आकाश अलोकाकाश कहलाता है। लोकाकाशमे धर्मद्रव्य और अधर्म द्रव्य दो द्रव्य भरे हुए है। दोनो द्रव्य अमूर्त है, अखड है। उनमेसे धर्मद्रव्य जीव पुद्गलके चलनेमे सहायक होता है और अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलके ठहरनेमे सहायक होता है। जहातक धर्म अधर्म द्रव्य है, वहींतक लोकाकाश है। इस लोकाकाशके एक एक प्रदेश पर एक एक एक कालका अणु है उससे उसकी पर्यायरूप कालका सबसे छोटा भाग उत्पन्न होता रहता है। असंख्यात समय की आवली होती है तथा इसी आवलीसे घडी घंटा आदि समय होता है, यह समय समस्त पदार्थोंके स्वरूपको परिवर्तन कराता रहता है। इस प्रकार अत्यंत सक्षेपसे जीव अजीव तत्त्वो का निरूपण किया है। इन सबका स्वरूप समझकर अपनी बुद्धिको

यथार्थ बनाना चाहिये। पुद्गलादिक हेय पदार्थोंका त्याग कर देना चाहिए, कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिए। यही आत्मा के अनंतसुख का साधन है। जो पुरुष इन समस्त तत्त्वोंके स्वरूपको नहीं समझते हैं वे हेय पदार्थोंका त्याग भी नहीं कर सकते। न कर्मोंको नष्ट कर सकते हैं। अतएव वे संसार में ही परिभ्रमण किया करते हैं। अतएव इस परिभ्रमण से बचनेके लिए आत्मामें लीन होकर कर्मोंको नष्ट कर देना चाहिये। जिससे कि अनंतसुखकी प्राप्ति हो। यही भव्यजीवका कर्तव्य है ॥ १९९ - २०० ।

आगे तत्त्वोंको जानकर ज्ञानी क्या करता है और अज्ञानी क्या करता है यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—जानन्नजानन् तत्त्व च मुज्ञो मूर्खः करोति किम् ?

अर्थ— हे भगवान् ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि तत्त्वोंको जानकर ज्ञानी क्या करता है और अज्ञानी क्या करता है।

उत्तर- अजानमानो वरसप्ततत्त्वं वा तत्स्वरूपं च यथास्थितं कौ ।
मूर्खः सदा क्लिश्यति सौख्यहेतोस्तथापि दुःखी भवतीह दीनः ॥
ज्ञानीति जानन् वर सप्ततत्त्व वा तत्स्वरूपं सुखशान्तिमूलम् ।
तृप्तः स्वतत्त्वे हि शुभे तटस्थ-स्तथापि साम्राज्यसती समीपा॥२०२

अर्थ—आत्माके स्वरूपको नहीं जाननेवाला अज्ञानी पुरुष अपने स्वरूपमें ठहरे हुए सातों तत्त्वोंको नहीं जानता और न उनके स्वरूपको जानता है। तत्त्वोंके स्वरूपको न जानकर केवल सुखके लिये अनेक प्रकारके क्लेश सहन किया है। तथापि इस संसारमें वह दीन होकर दुःखी ही बना रहता है। परंतु आत्माके स्वरूपको जाननेवाला

ज्ञानी पुरुष सातों तत्वोंको जानलेता है सुख और शांति के कारण ऐसे उनके स्वरूपको जान लेता है और फिर अपने शुभ आत्मतत्वमें ही तृप्त बना रहता है। यद्यपि वह अन्य समस्त तत्वों में उदासीनता धारण करलेता है तथापि मोक्षरूप साम्राज्यलक्ष्मी स्वय उसके समीप आजाती है।

भावार्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बंध संवर, निर्जरा और मोक्षके भेदसे तत्व सात हैं। इनमेंसे जीव अजीवका संक्षिप्त वर्णन पहले श्लोकमें कहचुके हैं। कषायोंके निमित्तसे जो कर्मवर्गणाएं आत्माके साथ मिलने के लिये सम्मुख होती हैं। उसको आस्रव कहते हैं। अथवा कर्मोंके आनेको आस्रव कहते हैं। उन कर्म वर्गणाओंका आत्माके साथ मिल जाना बंध है। उत्तम क्षमा आदि भावोंसे आस्रवको रोकदेना संवर है। पूर्वसंचित कर्मोंका एकदेश क्षय होना निर्जरा है और समस्त कर्मोंका क्षय होजाना मोक्ष है। जो पुरुष इन सातों तत्वोंके यथार्थ स्वरूपको समझ लेता है वही पुरुष आस्रवबंधको नष्ट कर संवर और निर्जरा को ग्रहण करता है। संवरके द्वारा आते हुए कर्मोंको रोकता है और निर्जराके द्वारा पूर्वसंचित कर्मोंका क्षय करता है। इस प्रकार वह समस्त कर्मोंको क्षय कर मोक्षतत्वको प्राप्त कर लेता है। इस संसार में मोक्षतत्व प्राप्त कर लेना ही मनुष्यजन्मकी सार्थकता है। जो पुरुष इन सातों तत्वोंका यथार्थस्वरूप नहीं जानते वे न तो आस्रव बंध से आत्माको बचा सकते हैं और न कर्मोंको नष्ट कर आत्माकी अनतज्ञानमय तथा अनंतसुखमय विभूति को प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए वे सुखके निमित्त प्रयत्न करते हुए यथार्थसुख से वंचित रहते

है तथा इन्द्रियजन्य सुखको सुख मानकर उसीमें लगे रहते हैं, उसके लिए अनेक पाप उत्पन्न करते रहते हैं, और न पापोंसे तीव्रकर्मोंका बंध कर संसारसागर मे सदाकाल परिभ्रमण किया करते हैं। अतएव भव्यजीवोंको इन सातो तत्त्वोंका स्वरूप जानकर आस्रवादिक हेय पदार्थोंका त्याग कर देना चाहिये और मोक्षादिक उपादेय तत्त्वोंको प्राप्त कर आत्माका यथार्थ कल्याण कर लेना चाहिये। २०१-२०२॥

आगे ज्ञानी और अज्ञानी किसके लिए प्रयत्न करते हैं यही दिखलाते हैं।

प्रश्न—**किमर्थं यतते मूर्खः सुज्ञो वा वद मे प्रभो ?**

अर्थ—हे प्रभो ! अब कृपाकर यह बतलाइये कि ज्ञानी पुरुष किसके लिए प्रयत्न करता है और अज्ञानी पुरुष किनके लिए प्रयत्न करता है।

उत्तर–प्रवृत्तिमार्गं च निवृत्तिमार्गं मूर्खो न जानाति निजस्वरूपम्
प्रवृत्तिमार्गस्य च दुःखदस्य प्रवर्द्धनार्थं यततेऽथ नित्यम् ॥२०३॥
प्रवृत्तिमार्गं च निवृत्तिमार्गं ज्ञानीति जानन् स्वपदं यथावत्।
प्रवृत्तिमार्गं यतते विहाय निवृत्तिमार्गेण शिवं च गन्तुम् ॥२०४॥

अर्थ—आत्माके स्वरूपको न जाननेवाला अज्ञानी पुरुष न तो प्रवृत्तिमार्गको जानता है, न निवृत्ति मार्गको जानता है और न अपने आत्माका स्वरूप जानता है। इसलिये वह अत्यंत दुःख देनेवाले प्रवृत्ति मार्गकी वृद्धि करनेकेलिये ही सदाकाल प्रयत्न किया करता है। परंतु आत्माके स्वरूपको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष प्रवृत्तिमार्गका स्वरूप भी जानता है, निवृत्तिमार्गका स्वरूप भी जानता है और अपने आत्माका

यथार्थ स्वरूप भी जानता है। अतएव वह प्रवृत्ति मार्गको छोडकर निवृत्तिमार्गसे मोक्ष जानेका प्रयत्न करता है।

भावार्थ—जिन कर्मोमे मन वचन काय वा इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति हो उन कार्योंके करनेको प्रवृत्तिमार्ग कहते हैं। संसारके जितने कार्य हैं। वे सब प्रवृत्तिमार्गरूप हैं। तथा जिन कार्योंमे मन वचन काय और इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति रोकनी पडे उन कार्योंके करनेको निवृत्तिमार्ग कहते हैं। गुप्ति समिति आदि आस्रवको रोकनेवाले जितने कार्य हैं अथवा धर्मध्यान वा शुक्लध्यान आदि निर्जराके जितने कार्य हैं अथवा अनशन, अवमोदर्य, रसत्याग, वा प्रायश्चित्त आदि जितने तप हैं वे सब निवृत्तिमार्ग कहलाते हैं। प्रवृत्तिमार्गसे आस्रव बंध होता है और निवृत्तिमार्गसे संवर निर्जरा होती है। इस ऊपर लिखे कथनसे यह सुतरा सिद्ध होजाता है कि प्रवृत्तिमार्ग संसारके परिभ्रमण का साधन है और निवृत्तिमार्ग मोक्षका साक्षात् साधन है। मोक्षकी प्राप्ति निवृत्तिमार्गसे ही होती है। प्रवृत्तिमार्गसे कभी किसी काल में मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव दोनोंका यथार्थ स्वरूप जानकर प्रवृत्तिमार्ग का त्याग कर देना चाहिये और निवृत्ति-मार्गको धारण कर मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिए यही आत्माके लिए कल्याणकारी है॥ २०३-२०४॥

आगे अपने आत्मामें सतुष्ट रहनेवाला जीव दूसरोंके साथ बात-चीत करता है या नहीं यही बतलाते हैं।

प्रश्न—स्वात्मतुष्टः परैः सार्द्धं ब्रवीति मे न वा वद ?

अर्थ—हे स्वामिन्! अब कृपाकर यह बतलाइये कि अपने

आत्मामें संतुष्ट रहनेवाला जीव दूसरोंके साथ बातचीत करता है वा नहीं ?

उत्तर—धर्मोप्यधर्मोऽस्ति नभोपि कालस्तत्त्वादजीवो भुविपुद्गलोपि।
नाहं ह्यजीवोऽस्मि यथार्थदृष्ट्या चिन्मात्रमूर्तिः स्वपदेस्मि गुप्त॥२०५
तथैव भिन्नाश्च मदन्यजीवास्ततः प्रभो केन समं ब्रवीमि ।
विचार्य चैवं हि पुनः पुनश्च श्रीकुन्थुसिंधुर्वरसूरिरेव ॥ २०६ ॥
स्वानन्दतुष्टोऽखिलविश्वबन्धुः सुखप्रदे स्वात्मचतुष्टये हि ।
बभूव पूते स्वपदे सुगुप्तो भानुः प्रभायामिव भव्यबन्धुः ॥२०७॥

अर्थ—इस संसारमें धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये अजीव पदार्थ हैं। यदि यथार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो मैं न तो धर्मद्रव्य हूं, न अधर्मद्रव्य हूं, न आकाशद्रव्य हूं, न कालद्रव्य हूं, और न पुद्गलद्रव्य हूं । अतएव यथार्थ दृष्टिसे मै अजीव नहीं हूं । मैं तो अपने आत्मामें सदाकाल गुप्त रहनेवाला चैतन्यमात्र मूर्ति हूं । जैसा मैं चैतन्यमात्र मूर्ति हूं वैसे ही मुझसे भिन्न दिखाई देनेवाले अन्य जीव भी सब चैतन्यमात्र मूर्ति हैं वे भी धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल रूप अजीव नहीं है । अतएव मुझसे भिन्न जितने जीव हैं वे सब मेरे समान चैतन्यमय है। अतएव हे भगवन् ! अब मैं किसके साथ बातचीत करू । संसारमें जितने जीव है वे सब चैतन्यमय हैं और अपने अपने आत्मा में गुप्त है इसलिये उनके साथ बातचीत हो नहीं सकती तथा अजीव पदार्थोंसे बातचीत हो नहीं सकती । अतएव संसारमें ऐसा कोई शेष नहीं रह जाता है जिसके साथ बात चीत की जाय । इसलिये हे भगवन् ! मैं किसी के साथ बातचीत नहीं करता । इसी बातको बार बार विचार कर जिस प्रकार सूर्य अपनी

प्रभामें ही गुप्त रूपसे रहता है, उसी प्रकार अपने आत्मजन्य आनंदमें संतुष्ट रहनेवाले, विनाकारण समस्त संसारके बंधु, और विशेषकर समस्त भव्यजीवोंके बंधु ऐसे आचार्यप्रवर श्री **कुंथुसागर स्वामी** अत्यंत सुख देनेवाले, परमपवित्र और अपने आत्माके अनंतचतुष्टयोंसे सुशोभित ऐसे अपने शुद्ध आत्मामे ही सदाकाल गुप्त रूपसे विराजमान रहते हैं।

भावार्थ—अपने आत्मामे संतुष्ट रहनेवाला दूसरे किसी भी पदार्थसे किसी प्रकारका संबंध नहीं रखता। वह तो सदाकाल आत्मामें ही लीन रहता है। जो जीव आत्मामें लीन रहता है वह दूसरोंसे कभी बातचीत नहीं कर सकता तथा जो दूसरोंसे बातचीत करता है वा करना चाहता है वह अपने आत्मामें लीन नहीं हो सकता। इससे सुतरा सिद्ध होजाता है कि आत्मामे संतुष्ट रहनेवाला जीव कभी भी दुसरोंसे वार्तालाप नहीं कर सकता। आचार्यवर्य श्री कुंथुसागर स्वामी भी इसी सिद्धांत को मानकर सदाकाल अपने आत्मामें लीन रहते हैं। तथा यही आत्माके यथार्थ कल्याणका मार्ग है।

इत्याचार्यवर्यश्रीकुंथुसागर-विरचिते सुधर्मोपदेशामृतसारे आत्मतत्त्वोपदेशवर्णनो नाम द्वितीयोऽध्यायः।

इसप्रकार आचार्यवर्य श्री कुंथुसागर विरचित श्री सुधर्मोपदेशामृतसार नामके ग्रंथ की "धर्मरत्न" पं. लालाराम शास्त्री विरचित भाषाटीकामे आत्मतत्त्वके उपदेशको वर्णनकरनेवाला यह दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

अथ प्रशस्तिः ।

न्यायं नयं व्याकरणं न छन्दो निजात्मविद्यां स्वसुधां पवित्राम् ।
जानामि काव्यं न विशेषशास्त्रं तथापि बुद्ध्या सुखशांतिदातुः ॥ १ ॥
दीक्षागुरोरेव च शांतिसिंधोर्विद्यागुरोरेव सुधर्मसिंधोः ।
कृपाप्रसादान्निजतत्त्वदात्री सुधर्मशिक्षा लिखिता मयेयम् ॥ २ ॥

अर्थ—मैं [आचार्य श्री कुंथुसागर स्वामी] न तो न्यायशास्त्र को जानता हूं, न व्याकरणशास्त्र जानता हूं, न छन्दशास्त्र जानता हूं; न अपने आत्माके लिए अमृत के समान पवित्र अध्यात्म विद्याको जानता हूं, न काव्यशास्त्र जानता हूं और न अन्य विशेष शास्त्रोंको जानता हूं। तथापि सुख और शांति देनेवाले मेरे दीक्षागुरु आचार्यप्रवर श्री शांति-सागर जी कृपाके प्रसाद से तथा मेरे विद्यागुरु आचार्य श्री सुधर्म-सागर जी कृपाके प्रसाद से अपने आत्मतत्त्वके स्वरूपको प्रकाशित करनेवाली यह आचार्य श्री सुधर्मसागरकी शिक्षा मैंने अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार लिखी है।

सुधर्मसिंधोश्च गुरोः सकाशात् यच्छिक्षितं तत्सकलं गृहीत्वा ।
सुधर्मदेशानृतसारनाम्नि ग्रंथे पवित्रे लिखितं मयेदम् ॥ ३ ॥

अर्थ—गुरुवर्य आचार्य सुधर्मसागर के समीप मैंने जो कुछ शिक्षा ग्रहण की थी वह सब इकट्ठी करके मैंने इस सुधर्मोपदेशामृतसार नामके पवित्र ग्रंथमें लिख दी है।

ग्रंथं ह्यमुं वांछितदं पवित्रं पठन्ति गायन्ति नमन्ति नित्यम् ।
तदर्थमेवं हृदि धारयन्ति त एव भव्याश्च विचारशीलाः ॥ ४ ॥

साम्राज्यलक्ष्मीं सुखदां यथेष्टं धर्मानुकूलं च निजात्मबंधुम् ।
लब्ध्वा लभन्ते ह्यजरामरत्वं क्रमात्तथानन्तचतुष्टयं च ॥ ५ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव अपनी समस्त इच्छाओंको पूर्ण करनेवाले इस पवित्र ग्रंथको पढते हैं वा गाते हैं वा प्रतिदिन इसको नमस्कार करते हैं अथवा अपने हृदय में इसके अर्थ को धारण करते हैं वे ही पुरुष इस संसारमे विचारशील कहे जाते है। ऐसे पुरुष सुख देनेवाली साम्राज्यलक्ष्मीको यथेष्ट प्राप्त कर लेते हैं तथा धर्मके अनुकूल चलने-वाले अपने भाईबंधुओंको प्राप्त कर लेते हैं । अंतमें वे पुरुष अपने आत्माके अनंतचतुष्टयोंको प्राप्त कर अजर अमर पद अर्थात् मोक्षपद प्राप्त कर लेते है।

बोधिं समाधिं सुखदां सुविद्यां क्षमाकृपाशांतिदयासुधैर्यम् ।
श्रीशांतिनाथः सुखशांतिपूर्णो धर्मानुकूलां विदधातु बुद्धिम् ॥६॥

अर्थ—अनंतसुख और अनंतशांति के सागर ऐसे भगवान् श्री शांतिनाथ सोलहवे तीर्थंकर परमदेव मेरे लिए रत्नत्रय प्रदान करे, समाधि प्रदान करें, सुख देनेवाली अध्यात्मविद्या प्रदान करें, क्षमा, कृपा, शांति, दया, और श्रेष्ठ धैर्यको प्रदान करे तथा धर्मके अनुकूल चलनेवाली सुबुद्धि प्रदान करे ।

इतिशम् ।

—=—

पावागढक्षेत्रयात्रावर्णनम् ।

आगे पावागढ सिद्धक्षेत्रकी यात्राका वर्णन करते हैं ।

भोगीलालजठालालमाणिकलालधर्मिणः ।
वाडीलालामथालालछवालालविनोदिनः ॥ १ ॥
नाथालालमणीलालकचरालालदानिनः ।
चुरालालपुनमलालकेशवलालज्ञानिन ॥ २ ॥
दानार्चाधर्मनिष्ठाश्च जांबुडीग्रामवासिनः ।
श्रीपावागढयात्रार्थं कृतवन्तः सुप्रार्थनाम् ॥ ३ ॥
स्वीकृत्य प्रार्थनां तेषां धर्मोद्योतनहेतवे ।
पूर्वोक्तश्रावकैः सार्द्धं जिनधर्मप्रभावकैः ॥ ४ ॥
विपुलश्राविकाभिश्च बहुभिर्ब्रह्मचारिभिः ।
तपस्तुष्टेन धीरेण नमिसागरयोगिना ॥ ५ ॥
ध्वजातोरणघंटादिशोभितैर्जिनमन्दिरैः ।
सार्द्धं चचाल पूतात्मा ह्याचार्यः कुंथुसागरः ॥ ६ ॥

अर्थ— दान पूजा आदि धर्म कार्योंमें लीन रहनेवाले तथा जाबुडी नगरके रहनेवाले सेठ भोगीलाल मगनलाल शाह, सेठ जेठालाल मगनलाल शाह, सेठ माणिकलाल लालचद गाधी, सेठ वाडीलाल कोदरलाल गाधी, सेठ छवालाल मोतीचद कोठरिया, सेठ अमथालाल साकलचंद शाह, सेठ मणीलाल देवचंद शाह, सेठ नाथालाल माणिकचंद मेहता फतेपुर, सेठ कचरालाल मगनलाल कोठडिया गढाडा,

सेठ धुरालाल तलोदस्टेशन, सेठ केशवलाल गुलाबचंद गांधी तलोद स्टेशन, सेठ मुफ्तलाल हार्षचंद गांधी तलोदस्टेशन आदि ज्ञानी दानी और धार्मिक पुरुषोंने भी पावागढ सिद्धक्षेत्र की यात्रार्थ चलनेके लिये प्रार्थना की। आचार्य कुंथुसागरने धर्मका अधिक उद्योत करनेके लिये उनकी यह प्रार्थना स्वीकार की तथा जिनधर्मकी प्रभावना करनेवाले ऊपर कहे हुए समस्त श्रावकोंके साथ, अनेक श्राविकाओंके साथ, अनेक ब्रह्मचारियोंके साथ तथा तपश्चरणसे ही संतुष्ट रहनेवाले धीर वीर मुनिराज नमिसागर के साथ और ध्वजा, तोरण घंटा आदि उपकरणोंसे शोभायमान जिनालय के साथ पवित्र आत्माको धारण करनेवाले आचार्य कुंथुसागर जावुटी गावसे चले।

ग्रंथनिर्माणमौनादौ दक्षश्च पुरुषोत्तमः ।
हातमतीं नदीं कंध्याचलत्फतेपुरं प्रति ॥ ७ ॥

अर्थ—ग्रंथरचना करनेमें तथा मौनधारण करनेमें अत्यंत चतुर वे पुरुषोत्तम कुंथुसागर आचार्य हातमती नदीको लघनकर फतेपुर पहुंचे।

तत्र संबोध्य भव्यान् हि ततोचलत्तलोदकम् ।
समंतादागतान् भव्यान् तत्र संबोध्य धीरधीः ॥ ८ ॥

अर्थ—वहांपर अनेक भव्यजीवोंको उपदेश देकर तलोदक नाम के नगर में आये। वहांपर चारों ओरसे बहुतसे भव्यजीव आये थे उन सबको उपदेश दिया और फिर वे धीर वीर आगे चले।

बडाशीनोरडेसाई गतः कुर्वस्तपोजपम् ।
तत्रापि बोध्य भूपादीन् कृत्वा शुद्धिं ततोऽचलत् ॥ ९ ॥

अर्थ—तलोदकसे चलकर वडाशी नोरडेगाई में पहुचे। वहांपर उन्होंने खूब जप, तप किया तथा अनेक राजाओंको उपदेश दिया और ईर्यापथशुद्धि करते हुए आगे चले।

मेसवं वात्रकं लंघ्य शेवालिं गोवरां गतः ।
तत्र संबोध्य जीवान् हि मार्गे कुर्वन् प्रभावनाम् ॥ १० ॥

अर्थ—मार्गमें मेसव और वात्रक नामकी नदीको उल्लंघन किया तथा मार्गमें अनेक प्रकार की धर्मप्रभावना करते हुए और भव्यजीवोंको उपदेश देते हुए शेवालि तथा गोवरा नगरमें पहुचे।

ततोऽचलच्छनैर्लंघ्य महीसागरमाजमाम् ।
सर्वत्र कारयन् शान्तिं हालल कामदो गतः ॥ ११ ॥

अर्थ—वहासे धीरे चलकर महीसागर आजमा नदीको पार किया और सबकी इच्छा पूर्ण करनेवाले वे कुंथुसागर आचार्य सर्वत्र शाति स्थापन करते हुए हालोल नगरमें पहुचे।

ततः पावागढं यत्र गता मुक्तिं दिगम्बरा ।
लवकुशादिमुख्याश्च श्रीपचकोटियोगिनः ॥ १२ ॥

अर्थ—वहासे चलकर वे कुंथुसागर आचार्य पावागढ पहुंचे। जहासे कि लव कुशको आदि लेकर पाच करोड मुनिराज मोक्ष पधारे हैं।

चरणपादुकां नत्वा भक्त्या स्तुत्वा पुन पुनः ।
तत्र पावागढे पूते वर्षायोगो धृतस्तदा ॥ १३ ॥

अर्थ—अत्यंत पवित्र ऐसे पावागढ सिद्ध क्षेत्रपर पहुंचकर लवकुश की चरणपादुका को नमस्कार किया तथा भक्तिपूर्वक बार बार उनकी स्तुति की और उसी समय उसी पवित्र क्षेत्रपर वर्षायोग धारण किया।

आषाढशुक्लपक्षे च चतुर्दश्यां शुभे दिने।
न्यायनीतिदयानिष्ठे राज्ये बृटिशभूपतेः ॥ १४ ॥
पंचषष्ठ्यधिके पूते चतुर्विंशतिके शते।
वर्षे वीरप्रभो र्मोक्षे स्वर्मोक्षदायिनः सताम् ॥ १५ ॥
व्रतनियमनिष्ठेन गुर्वाज्ञापालकेन च।
श्रीनमिसिंधुना सार्द्धं क्षुल्लकेनादिसिंधुना ॥ १६ ॥
स्थित्वा लवकुशादीनां पादमूले शिवप्रदे।
सुधर्मोपदेशामृतसारोयं लिखितो मया ॥ १७ ॥
स्वानन्दसौख्यतुष्टेनार्हद्धर्मरसिकेन च।
श्रीकुंथुसिंधुना भक्त्याचार्येण कामदेन हि ॥ १८ ॥

अर्थ—अपने चिदानंदमय सुखमें संतुष्ट रहनेवाले, सबकी इच्छाओंको पूर्ण करनेवाले और भगवान् अरहतदेवके कहे हुए धर्मके रसका पान करनेवाले मुझ आचार्य कुंथुसागरने सज्जन पुरुषोंको स्वर्ग, मोक्ष देनेवाले भगवान् महावीरस्वामीके मोक्ष जानेके चौवीस सौ पैंसठवे वर्षके आषाढ शुक्ला शुभ चतुर्दशीके दिन न्याय नीति और दयाके साथ राज्य करनेवाले ब्रिटिश के राज्य में अपने गुरुकी आज्ञाको पालन करनेवाले तथा अपने

व्रत नियम में अत्यंत निष्ठ ऐसे मुनिराज नमिसागर के साथ तथा क्षुल्लक आदिसागर के साथ श्री लव और कुश के मोक्षसुख देनेवाले चरणकमलोंके समीप बैठकर यह ' सुधर्मोपदेशामृतसार ' नामका ग्रंथ लिखकर वा बनाकर पूर्ण किया है।

सुधर्मोपदेशामृतसारोऽयं ग्रंथसत्तमः ।
धर्मोत्तमं दिशन् भव्यान् जीयादाचन्द्रमण्डलम् ॥

अर्थ—यह सुधर्मोपदेशामृतसार नामका उत्तम ग्रंथ भव्यजीवोंको उत्तम धर्मका उपदेश देता हुआ जबतक चंद्रमंडल विद्यमान है तबतक चिरंजीव बना रहे।

मुनयः कुंदकुंदाद्या कलौ सद्धर्मरक्षकाः ।
कुर्वन्तु जगतः शांतिं धर्मवृद्धिं पुनः पुनः ॥

अर्थ—आचार्य श्री कुंदकुंदादिक ही इस कलिकाल में श्रेष्ठधर्म की रक्षा करनेवाले हैं। इसलिए वे ही मुनिराज संसारभरको शांति प्रदान करें और बार बार धर्मकी वृद्धि करते रहें।

शुभमिति आश्विन शुक्ला १० रविवार वि. सं. १९९६ वी. नि. सं. २४६५ के दिन यह भाषाटीका समाप्त हुई।

—:—

समाप्तोऽयं ग्रंथः ।